लोकप्रियसाहित्यग्रन्थमाला-२८

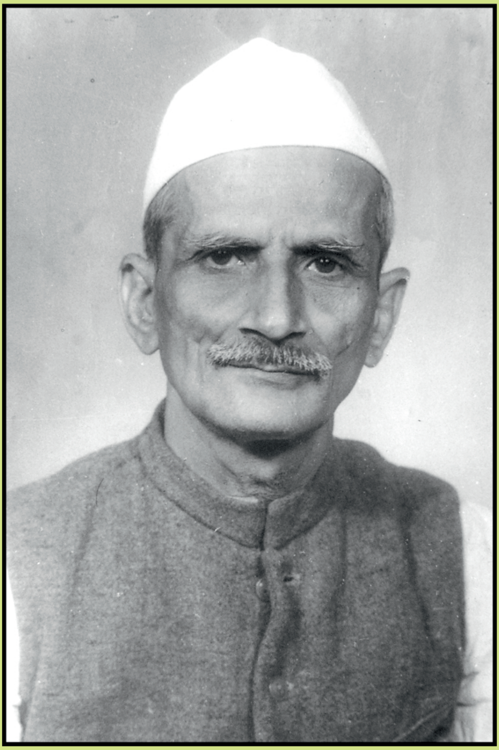
रूपकत्रयी

[श्री जनकशङ्कर-मनुशङ्कर-दवे-विरचिता]

।। शङ्करविजयम्।।

।। पूर्णं सप्तर्षिमण्डलम्।।

।। महावीरनिर्वाणम्।।



सम्पादकः

प्रो. जतीनः पंड्या

राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्

मानितविश्वविद्यालयः

नवदेहली

लोकप्रियसाहित्यग्रन्थमाला-२८

रूपकत्रयी

[श्री जनकशङ्कर-मनुशङ्कर-दवे-विरचिता]

।। शङ्करविजयम् ।।

।। पूर्णं सप्तर्षिमण्डलम् ।।

।। महावीरनिर्वाणम् ।।

प्रधानसम्पादकः
प्रो. राधावल्लभत्रिपाठी
कुलपतिः

सम्पादकः
प्रो. जतीनः पंड्या

राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्
मानितविश्वविद्यालयः
नवदेहली

प्रकाशकः
कुलसचिव
राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्
(मानितविश्वविद्यालयः)
५६-५७, इन्स्टीट्यूशनल एरिया
जनकपुरी, नवदेहली-११००५८

e-mail : rsks@nda.vsnl.net.in
website : www.sanskrit.nic.in

ISBN : 978-93-86111-68-5

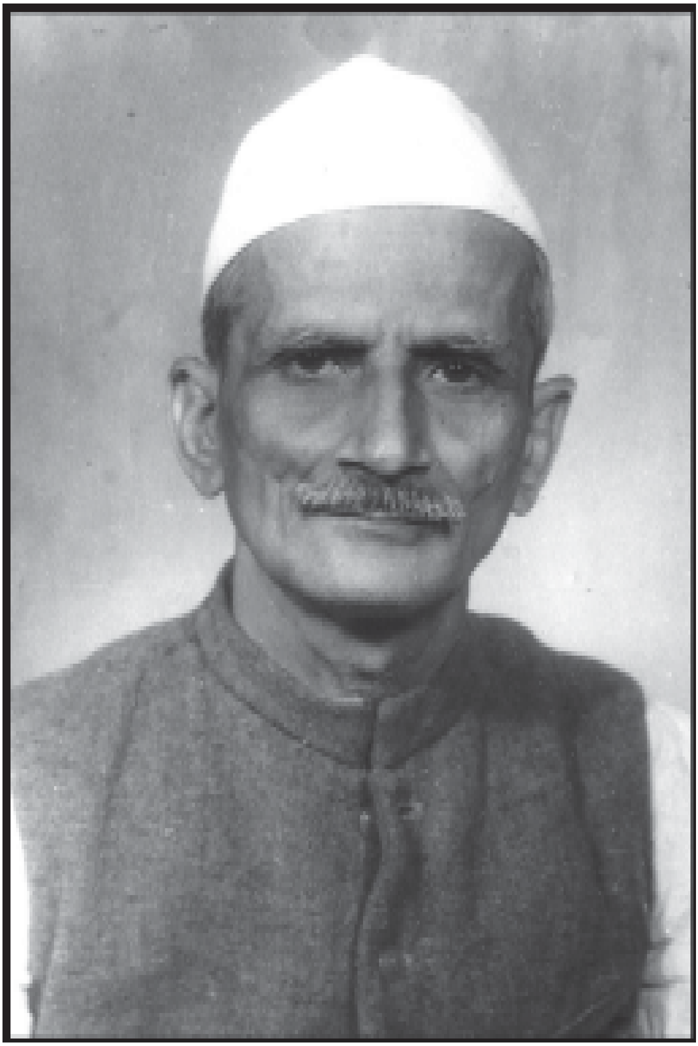
संस्करणम् : २०११

मूल्यम्– ₹ १४०/-

मुद्रकः
अमर प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली-९
दूरभाषः- ९८७१६९९५६५, ८८०२४५१२०८
e-mail-amarprintingpress@gmail.com

रूपकत्रयीरचयिता

स्व. श्री जनकशङ्कर मनुशङ्कर दवे



जन्म : २६-०२-१९११ निधन : २४-०३-१९९०

पुरोवाक्

साम्प्रतिकोऽयं समयो वर्तते संस्कृतभाषाया नवोन्मेषस्य नूतनसम्भावनानां च। अयं नवोन्मेषो नवीनाश्च सम्भावना समसामयिके संस्कृतसाहित्येऽपि प्रतिफलन्तीति शक्यं सुखमुच्छ्वसितुं सर्वैः सुरभारतीसेवकैः। यथा भारतीयप्रज्ञाया दायं बिभ्राणास्ते ते तेजस्विनः पण्डिताः प्रकटयन्ति शास्त्रवैभवम्, तथैव नैके कवयन्ति परःशतं सुकवयः निबध्नन्ति च विविधान् ग्रन्थान् अगणिता साहित्यरचनानदीष्णाः सरस्वत्याः सुपुत्रा अस्यामेव भाषायाम्। वस्तुत ऊनविंश–विंशशतकयोर्विपुलं साहित्यं संस्कृते व्यरचयन्नेते सुधियः सुकवयः। तस्य साहित्यस्य बहुमूल्यानि रचनारत्नानि सम्प्रति लुप्तप्रायाणि। वीरेन्द्रकुमारभट्टाचार्य– हरिदाससिद्धान्तवागीशहृषीकेशभट्टाचार्य–अप्पाशास्त्रिराशिवडेकर–सदृक्षाणां कवितल्लाजानां समग्रं साहित्यमिदानीं न लभ्यते।

राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानेन एतादृशानामुत्तमोत्तमरचनाकाराणां लुप्तप्रायस्य साहित्यस्य पुनरुद्धाराय पुनःप्रकाशनाय च पदक्षेपो व्यधायि। अस्मिन्नुपक्रमे भट्टमथुरानाथशास्त्रिणां रतिनाझावर्याणां मूलशङ्करमाणिकलालयाज्ञिकस्य च समग्राः रचनाः ग्रन्थावलीरूपेण प्रकाशिताः। अस्मिन्नेव क्रमे प्रकाशमायातीयं जनकशङ्कर–मनुशङ्कर–दवेविरचिता नाट्यत्रयी। अस्यां शङ्करविजयम्, पूर्णं सप्तर्षिमण्डलं, महावीरनिर्वाणं चेति रूपकत्रयं सन्निविष्टम्। एतानि सर्वाणि रूपकाणि पूर्वं संवित्पत्रिकायां प्राकाश्यं गतानि, परन्तु पुस्तकाकारेण इदम्प्रथमतया प्रकटीभवन्ति। अथ च महान् खलु हर्षस्यायं विषयो यदियं रूपकत्रयी ग्रन्थकर्तृणां श्रीमतां जनकशङ्कर–मनुशङ्कर–दवेवर्याणां जन्मशतीवर्षे प्रकाशमेतीति। संस्थानम् आचार्यजतीन्द्रपण्ड्यामहोदयायानां चाधमर्णतां बिभर्ति येषां समुद्यमेनेयं सुलभतां प्राप।

दवेवर्याणां त्रीण्यपि रूपकाणि अतितरां रुचिराणि। कल्पनायाः प्रौढता, नवीना उद्भावना, गहनं शास्त्रानुशीलनं व्युत्पत्तेः परिपाकश्चैते

गुणास्तेषु विलसन्ति। तथाहि- शङ्करविजये प्रतिफलितं विद्यारण्यादि-सुकविभिर्विरचितानां शङ्करदिग्विजयमहाकाव्यादिरचनानामनुशीलनम्। तत्रापि आचार्यशङ्करस्य मण्डनमिश्रेण जाते वादे यदा मण्डनमिश्रपत्नी साक्षात्सरस्वतीव सरस्वती आचार्येण शङ्करेण विवदते, तदा ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यस्य प्रतिपङ्क्ति साधु व्याख्यानं तु अनयोः संवादद्वारेण अस्य प्रसङ्गस्य निरूपणे दवेवर्यैः कृतमेव, तत्रापि वेदान्तचर्चायां प्रसक्तायां कामशास्त्रविषयकः प्रश्नस्यावतारो मा भूदकाण्डप्रथनदोष इति प्रथमं सा देवी सरस्वती अद्वैततत्त्वविषयके स्वकीये पक्षे शाङ्करभाष्यमाक्षिपन्ती प्रेमसम्बन्धे तु वयं यूयं यूयं वयमिति अनुभूतिर्जायत इति प्रथमं प्रतिपादयति, तत्र च शाङ्करपक्षे असमञ्जसे जाते पुनः प्रश्नमुत्थापयति कामसूत्रविषयकम्। अथ आचार्यस्य शङ्करस्य अस्याः सरस्वत्याः परः पराजयस्वीकारः आत्मनो वधस्य च प्रस्तावोऽत्र नवा कल्पना। तदनु राजकुमारदेहात् स्वकीयं जीवं पुनरपि पूर्वकाये सङ्क्राम्य तस्य पुनः मण्डनमिश्रतद्भार्यया वादः इत्यपि अभिनव एव प्रसङ्गोऽत्र उन्मीलति। शङ्कराचार्येण विभिन्नानां सम्प्रदायानां धर्ममार्गाणां समन्वयस्य स्थापनापि नाट्यकारस्य नवा दृष्टिः।

वस्तुतस्तु त्रिष्वपि रूपकेषु पुरातनकथानां पुनर्व्याख्या युगानुरूपं दवेवर्येण व्यधायि। द्वितीये रूपके वशिष्ठविश्वामित्रयोः प्रसक्ते विवादे वशिष्ठस्यौदार्यम्, अथ च विश्वामित्रस्य ब्रह्मर्षित्वप्राप्त्या सप्तर्षिमण्डलस्य पूर्णताप्राप्तिरिति कथाऽपि कामपि औचित्यसृष्टिम् आदर्शदृष्टिं च प्रस्तौति। अन्तिमे रूपके महावीरस्य अहिंसासिद्धान्तः तस्य औदात्त्यं च समीचीनं प्रत्यपादि नाट्यकर्त्रा। दवेवर्याणां संविधानकौशलं, नाट्यशिल्पस्य रञ्जकत्वं श्लक्ष्णमसृणा भाषाशैली च सद्यो मनो हरन्ति। सरलसरसललितसंवादसन्दृब्धा अभिनयगुणभूयिष्ठा अधीतिविशिष्टा शिष्टजनसमादरार्हा इयं रूपकत्रयी विदुषां मोदाय जायेतेति आशास्महे।

–राधावल्लभः त्रिपाठी

सम्पादकीय

वर्तमान युग में भी संस्कृत में साहित्य सर्जन होता रहा है यह अमरलोक की अमरभाषा की अमरता का प्रमाण है । गौरव की बात यह है कि न केवल सर्जन अपितु अर्वाचीन कृतियों का प्रकाशन भी होता है । स्व. श्री जनकशङ्कर मनुशङ्कर दवे के तीन संस्कृत नाटक – शङ्करविजयम्, पूर्णं सप्तर्षिमण्डलम् और महावीरनिर्वाणम् – भारतीय विद्या भवन, के. एम. मुन्शी मार्ग, मुंबई, ४००००७, के संस्कृत त्रैमासिक 'संवित्' में अगस्त १९७४ से १९९१ तक के अङ्कों में क्रमशः प्रकाशित हुए हैं । तत्पश्चात् मैंने सन १९९७ के सितम्बर में 'शङ्करविजयम्' गुजराती अनुवाद के साथ प्रकाशित किया था । अन्य दो नाटकों प्रकाशित करने का मेरा सङ्कल्प है । अब राष्ट्रिय संस्कृत संस्थानम्, नवदेहली द्वारा यह ग्रन्थप्रकाशन से मेरे जीवन का एक महत्त्वपूर्ण कार्य संपन्न हो रहा है । श्री जनकशङ्कर के जन्मशतब्दी के समय पर यह कार्य संपन्न हुआ यह विशेष आनंद और संतोष का प्रसङ्ग है ।

श्री जनकशङ्कर न केवल मेरे मातुल थे अपितु मेरे पालक, पथदर्शक और आदर्श भी थे । मैंने उनसे न केवल शिक्षा प्राप्त की परन्तु जीवन में उपयोगी गृहकार्य भी सीखा । अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तो जो संस्कार मुझे उनसे मिले वही मेरी अकूत संपत्ति है । वे मेरे माता, पिता और गुरु तीनों थे । मेरे जीवन में आये हुए तूफान को मैं पार कर सका ये उनके ही आश्रय, अध्यापन और आशीर्वाद से संभवित हो सका है । उनका अगणित ऋण चूकाना संभवित नहीं है, फिर भी उनके नाम को संसार के साहित्यपट पर चिरञ्जीवी करने का शुभ अवसर मुझे प्राप्त हुआ ये मेरा सौभाग्य है । इससे श्रेष्ठ उनका अन्य तर्पण नहीं हो सकता ।

प्रकाशन के प्रस्ताव से लेकर प्रकाशन सामग्री के मूर्त स्वरूप पर्यन्त प्रा. डॉ. श्री राजेन्द्र नाणावटीजी का उत्साहपूर्ण योगदान मैं कभी भूल नहीं सकता । डॉ. नाणावटीजी के प्रति धन्यवाद व्यक्त करना न मात्र एक औपचारिकता है अपितु मेरा धर्म है । नाटकों की कोम्प्युटर कोपी का प्रुफ रिडिंग के लिये श्री योगेश गोराने का अनुदान मैं भूल नहीं सकता । मैं दोनों का अत्यन्त आभारी हूँ ।

इन नाटकों को प्रकाशित करके राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नवदेहली ने मुझे आजन्म ऋणी बना दिया है । मैं संस्था का अत्यन्त आभारी हूँ ।

इति शम् ।

नवसारी, दिनाङ्क २६, फरवरी, २०११ **प्रा. जतीन पण्ड्या**

अनुक्रमः

नानकचन्द्रोदयमहाकाव्यम्
(एक परिशीलन)

लेखक
डॉ० सच्चिदानन्द तिवारी

लोकप्रियसाहित्यग्रन्थमाला-२८

रूपकत्रायी

[श्री जनकशङ्कर-मनुशङ्कर-दवे-
विरचिता]

।। शङ्करविजयम् ।।

।। पूर्णं सप्तर्षिमण्डलम् ।।

।। महावीरनिर्वाणम् ।।

प्रधानसम्पादकः
प्रो. राधावल्लभत्रिपाठी
कुलपतिः

सम्पादकः
प्रो. जतीनः पंड्या

प्रस्तावना

१ प्रास्ताविक :

वर्तमान युग में भी संस्कृत में न मात्र साहित्य सर्जन होता रहा है अपितु प्रकाशित भी होता रहा है यह अमरलोक की अमरभाषा की अमरता का प्रमाण है । स्व. श्री जनकशङ्कर मनुशङ्कर दवे के तीन संस्कृत नाटक –'शङ्करविजयम्', 'पूर्णं सप्तर्षिमण्डलम्' और 'महावीरनिर्वाणम्' – भारतीय विद्या भवन, के. एम. मुन्शी मार्ग, मुंबई, ४०० ००७, के संस्कृत त्रैमासिक 'संवित्' में क्रमशः प्रकाशित हुए हैं । 'संवित्' के अगस्त १९७४ से अगस्त १९७६ तक के अङ्को में 'शङ्करविजयम्', अगस्त १९७९ से अगस्त १९८० तक के अङ्को में 'पूर्णं सप्तर्षिमण्डलम्' और अगस्त १९८६ से अगस्त १९९१ तक के अङ्कों में 'महावीरनिर्वाणम्' प्रकट हुआ है । प्रस्तावना में इन नाटकों का सामान्य परिचय कराने का हि आशय है । परन्तु कृति से पहेले कृतिकार के जीवन से परिचिति होना उचित रहेगा ।

२ कर्ता का जीवन और समय :

'शङ्करविजयम्', 'पूर्णं सप्तर्षिमण्डलम्' और 'महावीरनिर्वाणम्' नाटकों के कर्ता स्व. श्री जनकशङ्कर मनुशङ्कर दवे का जन्म सन् १९११ फरवरी २६ के दिन महाशिवरात्रि के मङ्गल पर्व को रात्रि के १२ बजे हुआ था । सामान्यतः वे जनक दवे के नामसे जाने जाते थे । सुरत वैदिक कुंकणस्थ वडनगरा नागर ब्राह्मण पिता श्री मनुशङ्कर कृष्णशङ्कर दवे और माता श्रीमती सुमनगौरी के वे द्वितीय संतान थे । उनके दो भाई और तीन बहनें थीं । इन कृतियों में इन नामो का उल्लेख किया गया है । अतः इन सम्बधीयों के नामों की जानकारी आवश्यक है ।

श्री जनकशङ्कर के बडे भाई का नाम श्री रोहित दवे था । वे स्वातंत्र्य सेनानी थे । लोकनायक श्री जय प्रकाश नारायण, श्री अच्युत पटवर्धन और श्री अशोक महेता के साथ समाजवादी पार्टी के अग्रगण्य कार्यकर थे । सन १९४२ में कारावास के दौरान स्वातंत्र्यप्राप्ति के बाद भारत की सांस्कृतिक नीति के

विषय में साथियों से चिन्तन करके उन्होंने मुंबई के 'इन्डियन नेशनल थियेटर' की संकल्पना की । कारावास से मुक्त होने के बाद इस संस्था की स्थापना की और जीवन के अन्त तक संस्था के उपप्रमुख बने रहे । वे अत्यन्त विद्वान और सुशील व्यक्ति थे । सन १९५८ से १९६४ तक वे मुंबई राज्य से राज्यसभा के सदस्य चुने गये थे । श्री जनकशङ्कर के छोटे भाई का नाम श्री विश्वेश दवे था । बचपन में मेनेन्जाईटीस की बिमारी के कारण अधिक अभ्यास न कर सके थे । फिर भी वे स्वातंत्र्य सेनानी के रूप में एक साल का कारावास भुगत चुके थे ।

श्री जनकशङ्कर की तीन बहेनें थी जिन के नाम यथाक्रम श्रीमती प्रज्ञा, त्रिपुरा और चन्द्रविद्या थे । श्रीमती प्रज्ञा का विवाह मूलतः पेटलाद के परन्तु मुंबई निवासी श्री वीरबलराम अचरतराम त्रिवेदी के साथ हुआ था । श्रीमती प्रज्ञा की एक मात्र पुत्री का नाम ज्योति है । श्रीमती प्रज्ञा का निधन संभवतः सन १९४२ में हुआ था । श्रीमती त्रिपुरा का प्रथम विवाह श्री प्रेमेशभद्र मोहनभद्र पण्ड्या के साथ हुआ था । किन्तु उनसे लग्नविच्छेद हो जाने के पश्चात् श्रीमती त्रिपुराने श्री कीर्तिकर सुमनलाल गज्जर के साथ आन्तरज्ञातीय विवाह कर के क्रान्ति की ज्योत आगे बढाई जिसे श्री मनुशङ्कर की बुआ नर्मदागौरी ने वर्षो पूर्व गुजरात के प्रसिद्ध सुधारक कवि नर्मद के साथ विधवा विवाह कर के प्रस्थापित की थी ।

श्रीमती त्रिपुरा के प्रथम विवाह से एक पुत्र का जन्म हुआ था । उसका नाम जतीन पड्या है जो यतीन्द्र का अपभ्रंश स्वरूप है । कृति में यतीन्द्र नाम से उसीका उल्लेख है । माता के लग्नविच्छेद और पुनर्विवाह के संजोग में जतीन का लालनपालन और अभ्यास अपने मातुलगृह में श्री जनकशङ्कर की छत्रछाया में हुआ । श्रीमती त्रिपुरा के द्वितीय विवाह से एक पुत्री स्मृति का जन्म हुआ ।

श्री जनकशङ्कर की इन दो बहनों के अतिरिक्त एक बहन और तीनों भाई अपरिणीत थे । श्रीमती प्रज्ञा की पढाई न्यून थी ।

अन्य दोनों बहनें ग्रेज्युएट थी और दोनों शिक्षिकाएँ थी ।

श्री जनकशङ्करने प्राथमिक और माध्यमिक शालेय शिक्षा सुरत में प्राप्त की । सन १९३० में विल्सन कॉलेज, मुंबई से तत्त्वज्ञान के विषय में बी. ए. ओनर्स की उपाधि प्राप्त की और यहीं से सन १९३५ में एम. ए. की उपाधि प्राप्त की । तत्त्वज्ञान के अभ्यास के कारण संस्कृत शास्त्र से भी उनका घनिष्ठ परिचय था । एवं उनके परिवार में भी संस्कृत के प्रति अत्यन्त रुचि थी । उनके सब से छोटे चाचा श्री निगमशङ्कर कृष्णशङ्कर दवे संस्कृत के बडे विद्वान थे । यद्यपि श्री निगमशङ्कर बचपन में करीब एक साल की उम्र में हि शीतला -स्मोल पोक्स- की व्याधि से ष्टिहीन हो गये थे । फिर भी वे न केवल संस्कृत के महाविद्वान थे अपितु अंग्रेजी, हिन्दी, मराठी और शायद बंगाली के भी ज्ञाता थे । श्री जनकशङ्कर के पिता के भाई के पुत्र श्री जयन्तकृष्ण हरिकृष्ण दवे थे तो बेरिस्टर, फिर भी संस्कृत के बडे पण्डित थे और भारत सरकार गठित संस्कृत कमिशन के सदस्य भी थे । ऐसा विद्वत्तापूर्ण पारिवारिक पर्यावरण श्री जनकशङ्कर को मिला था ।

श्री जनकशङ्कर ने अपनी व्यावसायिक प्रवृत्ति सन १९३६ में सुरत की प्रोप्रायटरी हाईस्कूल में शिक्षक के तौर पर शुरू की । सन १९३७ में नवसारी के पास अब्रामा गाँव की हाईस्कूल में अध्यापन कार्य किया । और सन १९३९ से १९६६ तक नवसारी हाईस्कूल, नवसारी में अध्यापन कार्य किया । दरम्यान वे उसी स्कूल के संचालक मण्डल में एक ट्रस्टी भी बने थे । इस दौरान वे विद्यार्थीमण्डल और शिक्षकमण्डल के साथ सक्रिय रूप से जुडे रहे । सन १९६३ से १९६५ तक नवसारी नगरपालिका की शिक्षण समिति के अध्यक्ष थे । शिक्षा का व्यवसाय और मुख्यतया भाषा शिक्षण उनके पास होने के कारण अंग्रेजी, गुजराती, हिन्दी और संस्कृत पर उनका उत्कृष्ट प्रभुत्व बना रहा । वे गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद की हिन्दी परीक्षाओं से भी लंबे अरसे तक सक्रिय रूप से जुडे रहे थे । श्री जनकशङ्कर का

विद्वत्तापूर्ण पुस्तक 'हिन्दी के विकास में गुजरातीओं का प्रदान'[१] गुजरात विद्यापीठ ने प्रकाशित किया है । तत्त्वज्ञान और साहित्य के अलावा अर्थशास्त्र, मानसशास्त्र, राजनीति और धर्म उनके विशेष रस के विषय थे ।

श्री जनकशङ्कर की युवावस्था के दौरान महात्मा गांधी के नेतृत्व में स्वातंत्र्य संग्राम चरम सीमा पर था । वे भी स्वातंत्र्य संग्राम के प्रति आकर्षित हुए और सक्रिय बने । उन्होंने सन १९३०, १९३२ और १९४२ के आन्दोलन में हिस्सा लिया । उनकी चार बार गिरफतारी हुई थी । दो बार सामान्य केद और दो बार एक एक साल के लिए सख्त केद की सजा हुई थी । सन १९५६ तक वे अखिल भारतीय कोंग्रेस के सक्रिय सदस्य रहे थे । किन्तु वैचारिक मतभेद के कारण त्यागपत्र दे कर सक्रिय राजनीति से निवृत्त हो गये । तथापि राजनीति में उनका रस, राजनैतिक चिन्तन और राष्ट्रभावना जीवन के अन्त तक जीवन्त थे । नवसारी जिला रचना के आन्दोलन में भी उनका महत्त्वपूर्ण योगदान था । राजनीति के साथ उनका जीवन्त संबंध उनके नाटकों में भी प्रतिबिंबित हुआ है ।

राजकीय विचार के मतभेद की असर उनके व्यवसाय उपर भी पडने लगी थी । पुराने राजकीय मित्र अब शत्रु बन गए । उन पर तरह तरह के झूठे आक्षेप लगने लगे । भारत का स्वातंत्र्योत्तर काल राजनैतिक ष्टि से कितना मलिन, विषमय, द्वेषपूर्ण और निम्न होता रहा है उसका यह प्रमाण है । यूँ तो वे निर्भिक थे । लेकिन उनको परेशान करने के लिए, जो राजनीति से संबंधित नहीं थी ऐसी अन्य निर्दोष व्यक्तिओं के साथ भी झूठे चरित्रहीनता के आरोंपो तक के दुर्व्यवहार होता रहा था । यह स्थिति उनके लिये असह्य थी । आखिर एक संनिष्ठ, प्रामाणिक, सदाचारी, निष्पक्ष, विद्वान और सफल शिक्षक श्री जनकशङ्कर सन १९६६ में निवृत्तिवय से पूर्व हि स्वैच्छिक निवृत्ति ले कर अपने वतन सुरत में रहने लगे । यहाँ भी उनकी लेखन

१ हिन्दीना विकासमां गुजरातीओनो फाळो, जनकशङ्कर मनुशंङ्कर दवे, १९६३

प्रवृत्ति चलती रही । दो भाई और एक बहन त्रिपुरा के देहान्त के बाद कौटुंबिक समस्याएं उभरने लगी । परिणाम स्वरूप धीरे धीरे आरोग्य शरीर का साथ छोडने लगा । बाद में स्वास्थ्य चिकित्सा के लिए वे अपने भानजे जतीन के घर नवसारी आए थे । लेकिन औषधि कामियाब न हुई । २४ मार्च १९९० के दिन श्री जनकशङ्कर का उनकी कर्मभूमि नवसारी की अस्पताल में उपचार के दौरान हि निधन हुआ । तब सुरत के एक वर्तमानपत्र 'गुजरातमित्र'ने लिखा था 'सुरत के सपूत और नवसारी के नरबांका श्री जनक दवे का निधन ।'

ऐसे मनोवैज्ञानिक दबाव के समय में इन नाटकों का सर्जन चलता था । 'शङ्करविजयम्' नाटक सन १९६४ में समाप्त हुआ था । 'महावीरचरितम्' के प्रकाशन का समापन संवित् में १९९१ अगस्त में उनके निधन के बाद हुआ था ।

श्री जनकशङ्कर के जीवनानुभव और जीवनदर्शन का परिचय इन तीनों नाटकों के सामान्य अवलोकन से भी प्राप्त होता सकता है ।

३ कृति परिचय

(१) शङ्करविजयम्

१ प्रास्ताविक :

'शङ्करविजयम्' नाटक के आरंभ के विभागों में 'शङ्करचरितम्' नाम उपलब्ध होता है । बाद में कर्ता ने 'शङ्करविजयम्' नाम से नाटक आगे चलाया है । दोनों शीर्षक उचित हैं । नाटक का मुख्य विषय शङ्कराचार्य के दिग्विजय का है । इस लिए 'शङ्करविजयम्' शीर्षक का स्वीकार विशेष योग्य रहेगा ।

२ नाटक का सामान्य स्वरूप :

'शङ्करविजयम्' सात अङ्कों का नाटक है । चतुर्थ अङ्क में चार, और दुसरे, पाँचवे तथा छठे अङ्क में दो दो प्रवेश है । कुल मिला के करीब ५१ श्लोक हैं । स्पष्ट रूप से संख्या बताई नहीं जा सकती क्योंकि कभी श्लोक अपूर्ण छोडा गया है तो कभी पङ्क्तियों की संख्या पांच भी है । कर्ताने प्रसङ्ग की आवश्यकता

अनुसार प्रस्तुति की है । तदुपरांत, करीब एक तीहाई श्लोक अन्यत्र से अवतरित कीये गये हैं जो खास करके भगवद्गीता, शङ्कराचार्य के स्तोत्र और सुभाषितों से ऊद्धृत किए गए हैं । इन सभी का अत्यंत समुचित और सुयोग्य प्रयोग नाट्यकार ने किया है ।

३ नाटक की कथा :

प्रथम अङ्क का प्रारंभ नान्दी से होता है । तत्पश्चात् महान आचार्य के जन्मस्थान कालडी ग्राम में सायंसन्ध्या समय की आरती से मुख्य श्य का आरंभ होता है । वह समय कापालिकों के अनाचार और अत्याचार का था । शङ्कर के पिता शिवगुरु के मित्र विद्यानाथ की पुत्री का कोई कापालिक अपहरण करता है तब सहायता के लिये विद्यानाथ का आक्रोश सुनकर शिवगुरु कापालिक का पीछा करतें हैं । लेकिन शिवगुरु को घात लगा कर कापालिक भागने में सफल हो जाता है । सन्ध्याकाल की आरती से लौट रहे ग्रामजनों शिवगुरु को ऊठा लातें हैं । कापालिकों के बढते उत्पातों से चिन्तित ग्रामजनों सुरक्षा की कोई व्यवस्था करने के लिए सोचतें है । यहां प्रथम अङ्क समाप्त होता है ।

द्वितीय अङ्क के प्रथम प्रवेश में शङ्कर के जन्म का निरूपण है । हरिहर और नटराज के परस्पर परिहास से अङ्क का आरंभ होता है । तब शिवगुरु के निवास पर जा रही शारदाम्बा उन दोनों और विद्यानाथ को शिवगुरु के घर पुत्रजन्म होने का समाचार देती है । यह सुनकर वे सब शिवगुरु को अभिनन्दन देने के लिए शिवगुरु के घर जातें हैं ।

द्वितीय अङ्क के द्वितीय प्रवेश में विद्यानाथ नवजात शिशु के जन्माक्षर लिखकर तदनुसार बालक का भविष्यकथन करतें हैं । यहां भी हरिहर और नटराज के परस्पर वाणीविलास रूप उपहास से तत्कालिन समाज में प्रवर्तित मिथ्या विवाद का ही उदाहरण प्रस्तुत किया है ।

तृतीय अङ्क में एकान्त में चिन्तन कर रहे बालक शङ्कर के मानस पर मन्द गति से तत्त्वज्ञान का प्रभाव कैसे बढता है उसका अत्यंत समुचित निरूपण किया गया है । हरिहर के पुत्र

चन्द्रचूड और कापालिक मन्दिर से शिवगुरु द्वारा बचाई गई विद्यानाथ की पुत्री वैजयन्ती की प्रणयलीला चिन्तनशील स्वभाव के बालक शङ्कर ने अकस्मात् ही देखी । वैजयन्ती पतिगृह से आयी हुई थी और अपने पूर्व प्रणयी चन्द्रचूड के साथ पूर्वप्रणय को सहला रही थी । अपने पति का द्रोह कर के चन्द्रचूड के साथ अपने पतिगृह में ही गुप्तप्रणय की योजना बना रही थी । साथ साथ चन्द्रचूड ने भी अपने वृद्ध पिता की उपेक्षा करने का निश्चय कर लिया ।

उन दोनों के लौट जाने के पश्चात् शङ्कर की बाल सखी गृहकेली खेलने का प्रस्ताव लेकर आती है । शङ्कर उसे भयभीत बनाकर भागने के लिए मजबूर करता है ।

तदनन्तर चन्द्रचूड के वृद्ध पिता हरिहर शिवरात्रि का पर्व होने के कारण शिवमन्दिर जाने के लिये वहां से गुजरता है । चलते चलते लडखडाता है । शङ्कर उसे सहारा देता है । शङ्कर से बात करते हुए हरिहर अपने पुत्र चन्द्रचूड के दुर्व्यवहारों का निरूपण करता है । किसी युवती के प्रणयजाल में फसा हुआ चन्द्रचूड पिता के धन में अपना भाग लेकर कहीं भाग जाना चाहता था और इसी कारण पिता पर विषप्रयोग भी किया था । यह सुनकर शङ्कर हरिहर को संन्यास लेने का सूचन करता है । मगर असार संसार को दूर से नमस्कार करने की शङ्कर को सलाह देने वाला हरिहर खुद संसार छोडना नहीं चाहता । अशक्ति के कारण मन्दिर जाना छोडकर अपने घर लौट जाता है ।

गौतम बुद्ध ने अपनी कुमारावस्था में नगरयात्रा के दौरान विविध श्य देखे थे और खिन्न होकर महाभिनिष्क्रमण किया था ऐसी कथा प्रचलित है । शायद तृतीय अङ्क के मूल में इसी कथा का प्रभाव है । इन श्यों की शङ्कर के मानस पट पर गहरी असर हैती है जो उसे संन्यास की ओर आकर्षित करती है । किन्तु की माता की अनुमति कैसे ली जाए इस प्रश्न से शङ्कर चिन्तित है । अनन्तर सन्ध्या का समय होने पर शङ्कर सान्ध्य स्नानसन्ध्या के लिए नदी में उतरता है । तब शङ्कर की विधवा

माँ शङ्कर को खोजती हुई वहाँ आती है । शङ्कर मकरग्राह का बहाना बनाकर संन्यास के लिए माता की अनुमति प्राप्त कर लेता है । माता को अन्तिम संस्कार करने का वचन देकर मना भी लेता है । यहां तीसरा अङ्क समाप्त होता है ।

चतुर्थ अङ्क के प्रथम श्य में शङ्कर गुरु गोविन्दाचार्य के पास अपना विद्याभ्यास पूर्ण करता है । शङ्कर के नवनवोन्मेषशालि मतिवैभव से प्रसन्न गुरु उसे काशी जाकर मुनि बादरायण से मिलने का सूचन करतें है । अब वे बाल शङ्कर नहीं रहे । विद्याविभूषित महामानव बन चुके थे ।

चतुर्थ अङ्क के द्वितीय प्रवेश में शङ्कर वाराणसी पहूँचते हैं । काशीविश्वनाथ के मन्दिर में जा कर मुक्त कण्ठ से स्तुति करतें हैं । इससे उपस्थित लोकसमुदाय प्रभावित होता है । उसी समय महाकापालिक आयोजित नरमेध की उद्‌घोषणा होती है । नरमेध और महाकापालिक के विषय में यथासंभव जानकारी प्राप्त कर के शङ्कर यज्ञभङ्ग की प्रकट प्रतिज्ञा करतें हैं । बाद में मुनि बादरायण से मिलकर नरमेध बन्ध कराने की योजना के अन्तर्गत उनके साथ काशीराज को मिलने चले जातें हैं ।

चतुर्थ अङ्क के तृतीय प्रवेश में मणिकर्णिका के घाट पर नरमेध यज्ञ में सम्मिलित होने जा रहे लोक उत्सुकता से कोई नवीन घटना के बारे में बातें करते दिखाई देतें हैं । यज्ञ में काशीराज की स्वयं उपस्थिति और नरमेधयज्ञभङ्ग के लिये कोई अज्ञात बटुक की प्रतिज्ञा के विषय में लोक चर्चा कर रहें हैं ।

चतुर्थ अङ्क के अन्तिम चतुर्थ प्रवेश में शङ्कर और महाकापालिक के प्रधान शिष्य क्रकच का धर्मसंवाद निरूपित किया गया है । क्रकच का पराजय होना ही था तब महाकापालिक उपस्थित होकर शङ्कर का वध करने के लिये उद्यत होता है । मगर काशीराज महाकापालिक को शान्त कर के उसे धर्मसंवाद फिर से शरू करने के लिए मना लेते हैं । शङ्कर समज जाते हैं कि महाकापालिक कोई और नहीं परन्तु चन्द्रचूड ही है और महायोगिनी वैजयन्ती ही है । शङ्कर महाकापालिक के समीप

जाकर धीरे से यह बात करके उसे चौंका देतें हैं । इससे महाकापालिक का आत्मविश्वास हिल ऊठता है । बाद में महाकापालिक को धर्मवाद में पराजित करके उसको और महायोगिनी को शङ्कर अपना शिष्यत्व स्वीकृत करने के लिये बाध्य करतें हैं । नरमेध के बन्दीजनों को मुक्त किया जाता हैं । यज्ञ में मनुष्यवध निषिद्ध किया जाता है । और शङ्कर को आचार्य की पदवी से विभूषित किया जाता है ।

पाँचवे अङ्क के प्रथम प्रवेश में मण्डनमिश्र के साथ धर्मवाद करने के उद्देश्य से शङ्कराचार्य माहिष्मती नगरी पहूँचतें हैं । और पनिहारीयों से मण्डनमिश्र के निवास की जानकारी पा कर आगे चलते है ।

पाँचवे अङ्क के द्वितीय प्रवेश में मण्डनमिश्र के निवास पर पहूँच कर अपनी बुद्धिप्रतिभा से उनको प्रभावित करतें हैं और धर्मवाद का आवाहन भी करतें हैं । उस दिन मण्डनमिश्र के घर उनके पिता का श्राद्ध था । श्राद्ध के पश्चात् धर्मवाद का आयोजन करने के मण्डनमिश्र के प्रस्ताव का स्वीकार करतें हैं । वाद में मध्यस्थ के रूप में मण्डनमिश्र की विदूषी अर्धाङ्गिनी सरस्वती का हि चयन करतें हैं । सरस्वती के निमन्त्रण से दम्पती के आतिथ्य का भी स्वीकार करतें हैं ।

शंङ्कराचार्य-मण्डनमिश्र के वाद के पचासवें दिन छठे अङ्क के प्रथम प्रवेश का आरम्भ होता है । सरस्वती गम्भीरता से वाद के विषय में सोच रही है । शङ्कराचार्य के सिद्धान्त में दोष ढूँढ रही है । कुछ सुराग मिल ही रहे हैं तब चेटी आकर मण्डनमिश्र के पराजय स्वीकार की जानकारी देती है । लोकसमुदाय क्रोधित होकर शङ्कराचार्य का वध करने के लिए उद्यत होता है । मगर सरस्वती सब को शांति बनाये रखने का आश्वासन देती है ।

छठे अङ्क के दूसरे प्रवेश में सरस्वती शङ्कराचार्य को धर्मवाद का आवाहन देती है । वाद के दौरान कामसूत्र के प्रश्न से शङ्कराचार्य विवश हो जाते हैं और सत्यज्ञान की खोज के लिये छः मास की अवधि देने का प्रस्ताव रखतें हैं । वे अपने संन्यास के चिह्न को न्यास के रूप में रखकर परकाया प्रवेश के लिये

चल पडते हैं ।

सातवें अङ्क में पुनः आकर वाद पूर्ण करतें हैं । वहाँ शङ्कराचार्य का विरोध करने वाला क्रकच उपस्थित होकर उनका वध करने का निष्फल प्रयास करता है । शङ्कराचार्य वाद का समापन करतें हैं और सभी प्रचलित मतों का सन्मान करके समन्वयात्मक ष्टि से वेदान्त सिद्धान्त का प्रस्थापन करतें हैं । सभी धर्माचार्यो की सम्मति से चार दिशाओं में चार धर्ममठ की स्थापना की उद्घोषणा करतें हैं और उन मठों पर पद्म, मण्डनमिश्र, तोटक और हस्तामलक को मठाधिपति के रूप में प्रतिष्ठित करतें है । सरस्वती की शृङ्गेरी मठ की अधिष्ठात्री के रूप में प्रतिष्ठा करतें हैं । सरस्वती सहित चारों मठाधिपति द्वारा की गई शङ्करस्तुति और शङ्कराचार्य के इस दिग्विजय के साथ शङ्करविजयम् नाटक समाप्त होता है ।

अन्तिम अङ्क के अन्त में पुष्पिका में बताया है कि यह नाटक नाट्यकार ने विक्रम संवत् २०२० के वैशाख शुक्ल पंचमी के शङ्करजयन्ती के दिन शनिवार को समाप्त किया । इससे स्पष्ट है कि 'शङ्करविजयम्' नाटक का लेखन शक संवत् १८८६, ई. स. १९६४ के मई की १६ तारीख को समाप्त हुआ था ।

४ नाटक की पात्रसृष्टि :

'शङ्करविजयम्' नाटक के महत्त्वपूर्ण पुरुष पात्रो में शङ्कराचार्य, शिवगुरु, विद्यानाथ, हरिहर, नटराज, चन्द्रचूड अर्थात् महाकापालिक, काशीराज, क्रकच और मण्डनमिश्र हैं । विशेष में शङ्कर के गुरु गोविन्दाचार्य और मुनि बादरायण छोटी यद्यपि महत्त्वपूर्ण भूमिका वाले पात्रों हैं । बादरायण ब्रह्मसूत्र के रचयिता माने गयें हैं । यह निरूपण से कालातिक्रम दोष का संभव उत्पन्न होता है । तथापि संस्कृत साहित्य में ऐसे कालातिक्रम को दोष नहीं माना जाता । साथ में नरमेध यज्ञ का पुरोहित, महाकापालिक का दूत, उद्घोषक, शिवगुरु का शिष्य, कालडी के ग्रामजनों, वाराणसी और माहिष्मती के नगरजनों और वाराणसी तथा माहिष्मती की वादसभाओं के सभासदों की भूमिका गौण रूप से

निरूपित है । स्त्रीपात्रों में सती, सरस्वती और वैजयन्ती अर्थात् महायोगिनी के पात्रों का विशेष महत्त्व है । साथ में शङ्कर की बालसखी, शङ्कर के जन्म समय पर मङ्गलगीत गानेवाली स्त्रियाँ, प्रतिहारी, पनिहारीयाँ, चेटी जैसे गौण नारीपात्र भी हैं ।

५ नाटक का वस्तु :

'शङ्करविजयम्' नाटक की कथा शङ्कराचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तो के विजय की कथा है । किन्तु नाटक का उद्देश्य शङ्करसिद्धान्त के पीछे रही हुई मनोवैज्ञानिक भूमिका का निरूपण तथा तत्त्वज्ञान और व्यवहार का सन्तुलन करने का है । शङ्कराचार्य का जीवन काल ई. स. ७८८ से ८२० माना गया है । इस समय में धर्म के नाम चल रहे दुराचार के निरूपण से नाटक का आरंभ होता है । समाज का विद्यासंपन्न वर्ग भी शब्दचातुर्य युक्त निरर्थक परिहास और विवाद में परस्पर को परास्त करने में ही आत्मगौरव समझता था । हरिहर और नटराज के पात्रों से यह अभिव्यक्त हुआ है । शिवगुरु जैसे थोडे लोक धर्म के पतन से चिन्तित थे । शङ्कर ने बाल्यावस्था में हि संसार के खेल देख लिये जिससे उनका चिन्तनशील चित्त संन्यास की और झूकने लगा ।

यह समग्र नाट्यांश शांकरवेदान्त की मनोवैज्ञानिक भूमिका का विश्लेषण करता है । सर्वत्र अभेद ही होने से सर्व के प्रति आत्मवत् व्यवहार करना ही सम्यग्व्यवहार है । पराजित प्रतिवादी के प्रति शङ्कराचार्य की कठोरता भी लोकसंग्रहार्थ ही है ऐसा नाट्यकार का मन्तव्य है । साथ में विरोध करने वाले के प्रति स्नेहभाव और आत्मीयता से व्यवहार करना चाहिए ऐसे सरस्वती के सूचन का भी शङ्कराचार्य ने स्वीकार किया । यहां शाङ्करवेदान्त में गांधीवाद की विचारधारा सहज भाव से संमिलित होती हुई दीखाई देती है । विच्छिन्न समाजधर्म की पुनःप्रतिष्ठा के लिये चार मठ की स्थापना की जाती है । मात्र सर्वधर्मसमभाव या सर्वधर्म-समानत्व ही नहीं, अपितु सर्वधर्मसंमिलन ही तत्त्वज्ञान का परम उद्देश्य हो सकता है । तत्त्वज्ञान केवल वितंडा या शुभ शब्दों में सत्यखोज तक सीमित रह नहीं सकता ।

सर्वजनहित और सद्व्यवहार ही तत्त्वज्ञान का अन्तिम ध्येय है । शङ्कर ने यथा प्रसङ्ग कहा है, 'मृषा तज्ज्ञानं यद्व्यवहारं न परिशोधयति ।' 'शङ्करविजयम्' रचना से शाङ्करवेदान्त के विषय में इस विशिष्ट अभिगम का निरूपण नाट्यकार को अभिप्रेत है ।

'शङ्करविजयम्' की विवेचना करते हुए डॉ. प्रा. श्री राजेन्द्र नाणावटी[२] योग्य हि कहतें हैं ''शङ्करविजयम्' में शङ्कराचार्य के जीवन के प्रसिद्ध प्रसङ्गों का निरूपण है । ... शङ्कराचार्य के पात्रविकास की मुख्य रेखायें कलात्मक रूप से निरूपित हुई है । संन्यास के लिये माता की अनुमति लेने के समय शङ्कर ने अर्धसत्य कहा है जो महाभारत में युधिष्ठिर के वचन 'नरो वा कुञ्जरो वा' का स्मरण कराता है । व्यवहार में शुद्ध सत्य कभी (-शायद कभी कभी-) चल नहीं सकता । शङ्कराचार्य ने भी यथा प्रसङ्ग कहा है कि 'सत्यानृते मिथुनीकृत्य प्रवर्तते लोकव्यवहारः ।' मिथ्यासंसार को मकर का रूप दिया गया है । कर्ता ने लोकपरंपरा का काव्यसत्य के रूप में परिवर्तित करके कलात्मक विनियोग किया है । ... वेदान्तदर्शन के तीन औपनिषदिक महावाक्यों -'अहं ब्रह्मास्मि' 'तत्त्वमसि' और 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के अन्तर्निहित परम सत्य का नाट्यनिरूपण करने का प्रयास 'शङ्करविजयम्' नाटक को उन्नत रचना सिद्ध करता है । राष्ट्रहित का दर्शन दाम्पत्यसंबंध के विस्तार स्वरूप और केवलाद्वैतवाद के तार्किक परिणाम स्वरूप निरूपित किया गया है । ... बीसवीं सदी के संस्कृत नाटकों में 'शङ्करविजयम्' स्वतंत्र रूप से भी एवं गुजरात के प्रदान के रूप में भी महत्त्वपूर्ण रचना है ।'

(२) पूर्णं सप्तर्षिमण्डलम्

१ प्रास्ताविक :

पूर्णं सप्तर्षिमण्डलम् सर्जन क्रम से श्री जनकशङ्कर की द्वितीय नाट्यरचना है । विश्वामित्र के ब्रह्मर्षिपद की प्राप्ति की कथा को लेकर कर्ता ने फिर से एक तात्त्विक विचारधारा को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है ।

२ 'जनकशङ्कर दवे विरचित शङ्करविजयम्' (व्याख्यान) डॉ. राजेन्द्र नाणावटी.

२ नाटक का सामान्य स्वरूप :

पूर्णं सप्तर्षिमण्डलम् को एक अङ्क का बडा नाटक ही कहा जा सकता है । अथवा कर्ता ने नाटक को अङ्कों में विभाजित नहीं किया परन्तु विविध श्यों में विभक्त किया है ऐसा कहना अधिक योग्य रहेगा । विभागों को कहीं अपवाद को छोड कर अङ्क जैसी बडी संज्ञा देना संभव नहीं है । इसे प्रवेश या श्य कहना ही उचित रहेगा । ऐसे छोटे बडे सात श्यों में नाटक की कथा विस्तृत हुई है । नाटक में कुल मिलाकर २५ श्लोक हैं । कभी ये खण्डित छंद में है तो कभी अधुरे छंद में ही छोड दीये गयें हैं । फिर भी ऐसी रचनाएँ साभिप्राय प्रतीत होती है । साथ में कहीं प्रसिद्ध श्लोक उद्धृत भी किये गये हैं ।

३ नाटक की कथा :

वसिष्ठ की ब्रह्मशक्ति से पराजित होकर विश्वामित्र ब्रह्मर्षि पद की प्राप्ति के लिए उग्र तपश्चर्या में मग्न रहते है । उन्होंने राजर्षि पद पा लिया है । परन्तु राजर्षि पद से विश्वामित्र तृप्त नहीं है । उनको ब्रह्मर्षि पद का ही अभिलाष है । विश्वामित्र इन्द्रपद प्राप्त कर लेंगे ऐसे भय से देवराज इन्द्र विश्वामित्र के तपोभङ्ग के अन्य सर्व उपाय निष्फल हो जाने के पश्चात् अप्सरा द्वारा विश्वामित्र के तपोभङ्ग का प्रयास करता हे । इस उद्देश्य से मेनका को विश्वामित्र के तपोवन में भेजते है । इस बीच भगवान विष्णु का संदेश लेकर देवर्षि नारद विश्वामित्र के तपोवन में आते हैं । उनके पास विश्वामित्र, वसिष्ठ और मेनका के लिये संदेश है। विश्वामित्र की कार्यसिद्धि में सहायता ही संदेश का प्रयोजन है । यहीं से कथा का आरंभ होता है ।

नेपथ्य में नान्दी समान दो मङ्गलश्लोकों का पठन होता है । हालाँ कि कर्ता ने उसे नान्दी का नाम नहीं दिया है । पश्चात् अत्यन्त संक्षिप्त प्रथम श्य में नारद का आगमन, विश्वामित्र और मेनका की स्व-उद्देश्यपूर्ण प्रवृत्ति तथा भगवान विष्णु के आदेशवशात् संदेश प्रदान का प्रयोजन निरूपित किया गया है । संस्कृत नाटकों में प्रसिद्ध प्रस्तावना स्वरूप श्य है ।

द्वितीय श्य मेनका के नृत्य से शुरू होता है । विश्वामित्र को वश करने की इच्छा से धीरे धीरे अपने वस्त्र उतार रही मेनका को देवर्षि नारद मर्यादाभङ्ग की कोशिश से दूर रहने का उपदेश दतें हैं । लज्जा से मेनका चली जाती है । बाद में देवर्षि विश्वामित्र को भगवान विष्णु का संदेश देते हुए नारद कहतें है कि करुणा विना ब्रह्मर्षि पद की प्राप्ति नहीं हो सकती । साथ में ही बातों बातों में ब्रह्मर्षि पद के लिए आवश्यक गुणो के प्रति निर्देश करतें हैं । तदनुसार पररागद्वेष से अलिप्तता, अन्य की कृपा पर निर्भरता का अभाव, ब्रह्मत्व के लिए स्वपुरुषार्थ का महत्त्व, और मनोनिग्रह अत्यन्त आवश्यक हैं । देवर्षि वहाँ से महर्षि वसिष्ठ के आश्रम जानेवाले है यह जान कर विश्वामित्र साशङ्क बनते है और यात्रा का उद्देश्य पूछतें है । वसिष्ठरचित सूर्यसूक्त के विषय मे देवों का अभिनन्दन प्रस्ताव का उद्देश्य जानकर भी विश्वामित्र की शङ्का का निवारण न हो सका । विश्वामित्र की सफलता में ऐसी शङ्का भी बाधा रूप थी । विश्वामित्र अपने क्षत्रिय स्वभाव से उपर ऊठ सकते नहीं थे, यह उनकी बडी मर्यादा थी ।

तृतीय श्य में वसिष्ठ के आश्रम में वसिष्ठ अरुन्धती को सूर्यसूक्त का पठन करने की बिनती करतें हैं । इसी समय देवर्षि नारद आश्रम में देवों का प्रस्ताव लेकर आतें हैं । शङ्काशील विश्वामित्र चूपकी से वहाँ आकर दोनों की बातें सुनतें हैं । विश्वामित्र की मर्यादा के बारे में वसिष्ठ का अभिप्राय सुनकर नारद विश्वामित्र को वसिष्ठ का संदेश देना स्वीकार करतें हैं । परन्तु वसिष्ठ इसे अनावश्यक बताते हुए कहतें हैं कि विश्वामित्र छूपकर ये सब सुन ही रहे हैं । तब विश्वामित्र वहाँ से पलायन हो जातें हैं । मेनका-विश्वामित्र के संबंध के बारे में विष्णु का आयोजन जानकर वसिष्ठ सहकार का वचन देतें हैं ।

चतुर्थ श्य में नारद तप से विश्वामित्र को प्रसन्न करने का सूचन मेनका को करतें हैं ।

पाँचवे श्य में तपश्चर्या का अपना निश्चय विश्वामित्र को

बताकर जा रही मेनका का दस्युराज अपहरण करने का प्रयास करता है । विश्वामित्र नारीरक्षा का अपना धर्म समजकर मेनका को बचा लेतें हैं । और मेनका का विशुद्धभाव जानकर उसका सहधर्मचारिणी के रूप में स्वीकार करतें हैं ।

छठे श्य में मेनका के स्वीकार से अपने उद्देश्य की सफलता के लिए चिन्तित विश्वामित्र मार्गदर्शन पाने की इच्छा से स्वाभाविक रूप से हि सूर्यस्तुति करते हैं जिससे गायत्री मन्त्र का आविष्कार होता है । परन्तु पास में खेल रहे बटुकों का उपहास से व्यथित होकर क्रोधित विश्वामित्र वसिष्ठ की हत्या करने का निश्चय कर के कुठार लेकर वसिष्ठ के आश्रम की ओर चल पडतें है । एक बटुक भी कुतूहलवशात् उनके पीछे पीछे जाता है ।

सातवें श्य में वसिष्ठ और अरुन्धती के संवाद से उत्पन्न गलतफहमी के कारण विश्वामित्र वसिष्ठ पर रात के अंधेरे में प्रहार करने का प्रयास करतें हैं । लेकिन वसिष्ठ अपना बचाव कर लेतें हैं । तत्पश्चात् वसिष्ठ के कथन का सत्य जानकर विश्वामित्र अपनी भूल के लिए पश्चात्ताप से विह्वल हो उठतें हैं । वसिष्ठ विश्वामित्र को ब्रह्मर्षिपद के लिये योग्य मानते ही थे । आकाशवाणी से भी विश्वामित्र की प्रशंसा होती है । विश्वामित्र को ढूंढती हुई मेनका भी वसिष्ठ के आश्रम में आती है । इस अवसर पर भगवती लक्ष्मी के साथ भगवान विष्णु सहित महेन्द्र, वसिष्ठ उपरान्त अन्य पाँच ब्रह्मर्षीगण, अप्सराएँ, इत्यादि विश्वामित्र और मेनका को अभिनन्दित करने के लिए आतें हैं । इस प्रकार सप्तर्षि मण्डल पूर्ण हो जाता है तथा पूर्णं सप्तर्षिमण्डलम् नाटक भी समाप्त होता है ।

कर्ता ने यह नाटक कब पूर्ण किया था यह स्पष्ट नहीं है । फिर भी नाटक का प्रकाशन अगस्त १९७९ से शरू हुआ था । इस से ई. स. १९७९ के अगस्त के पूर्व नाट्यलेखन पूरा हो गया था, ऐसा मानने में कोई बाधा नहीं है ।

४ नाटक की पात्रसृष्टि :

'पूर्णं सप्तर्षिमण्डलम्' नाटक के पुरुष पात्रो में विश्वामित्र,

वसिष्ठ और देवर्षि नारद की भूमिका महत्त्वपूर्ण है । इन्द्र और भगवान नारायण नाटक के अन्त में रङ्गभूमि पर उपस्थित होतें है । यद्यपि सूचित पात्र के रूप में समग्र नाटक के उपर उनका प्रभाव है । दस्युराज की भूमिका छोटी होते हुए भी नाटक की दिशा बदलने में महत्त्वपूर्ण है । मेनका की रक्षा के लिये नियुक्त दो देवपुरुष, वसिष्ठ के आश्रम के पास खेल रहे दो-तीन बटुक इत्यादि गौण पात्र हैं । स्त्री पात्रों में मेनका सब से मुख्य है । सहायक अपितु महत्त्वपूर्ण भूमिका में अरुन्धती का पात्र उल्लेखनीय है । तदुपरान्त अप्सरागण भी गौण भूमिका निभाता है ।

५ नाटक का वस्तु :

ऋग्वेदकाल से वसिष्ठ-विश्वामित्र के संघर्ष की कथा प्रचलित है । महाभारत और पुराणों में भी विभिन्न स्वरूप से यह कथा प्राप्त होती है । वसिष्ठ-विश्वामित्र के संघर्ष की विवेचकों विविध ष्टिबिंदु से आलोचना करतें हैं । 'पूर्णं सप्तर्षिमण्डलम्' भी उसी संघर्ष की कथा का निरूपण करता है । परन्तु कर्ता ने संपूर्ण कथा का निरूपण न कर के विश्वामित्र-मेनका के प्रसङ्ग को हि प्राधान्य दिया है । संघर्ष के अन्य प्रसङ्गों में से कुछ प्रसङ्गों का क्वचित् यथावकाश उल्लेख ही किया गया है । कर्ता ने विश्वामित्र को ब्रह्मर्षि पद की प्राप्ति के पूर्व का अन्तिम प्रसङ्ग के रूप में मेनका प्रसङ्ग निरूपित किया है । यहाँ तक कि शकुन्तला के जन्म की घटना भी अभी बाकी है । कथा में ऐसे परिवर्तन संस्कृत में स्वीकृत है ।

मगर यह कथा का मात्र बाह्य स्वरूप है । कथा की वस्तु तो ब्रह्मत्व के लक्षण, ब्रह्मप्राप्ति का मार्ग और इसकी योग्यता का निरूपण ही है । यहाँ वसिष्ठ-विश्वामित्र का संघर्ष न तो वर्णसंघर्ष है, न तो राजकीय संघर्ष है और न हि पुरोहितपद का संघर्ष है । यह संघर्ष योग्यायोग्यता का है । कथा के मूल में छूपी हुई ब्रह्मत्व की तात्त्विकता को नाट्यरूप प्रदान करने का यह सहेतुक और सफल प्रयास है । अपने जन्म के वर्ण के ऊर्ध्वीकरण के लिए कैसे पुरुषार्थ की आवश्यकता है

इसका निर्देश इस नाटक से मिलता है । इस लिए 'पूर्णं सप्तर्षिमण्डलम्' नाटक को एक विशेष परिमाण प्राप्त हुआ है । 'पूर्णं सप्तर्षिमण्डलम्' नाटक भी कर्ता के अन्य नाटकों की भाँति तत्त्वज्ञान के विषय को ले कर हि रचा गया है । संस्कृत के प्राचीन-अर्वाचीन सभी रूपकों में 'पूर्णं सप्तर्षिमण्डलम्' ने अपना विशेष स्थान चिरंजीव कर लिया है । तत्त्वज्ञान और समाज के व्यवहार का संतुलन कर के 'पूर्णं सप्तर्षिमण्डलम्' यही उद्‌घोषणा करता है कि सर्वजनहित और सद्‌व्यवहार हि ब्रह्मत्त्व - ब्रह्मज्ञान का अन्तिम ध्येय है । सद्व्यवहार, सर्वजनहित और समाजकल्याण से निरपेक्ष संन्यास, ज्ञान या ब्रह्मत्व निरर्थक है । यही ष्टि कर्ता के 'शङ्करविजयम्' नाटक में है । वस्तुतः प्रथम नाटक 'शङ्करविजयम्' और 'पूर्णं सप्तषिमण्डलम्' का लक्ष्य एक ही है । कर्ता के अभिप्राय में तत्त्वज्ञान समाज से अलिप्त नहीं हो सकता ।

(३) महावीरनिर्वाणम् :

१ प्रास्ताविक :

'महावीरनिर्वाणम्' कर्ता का तीसरा नाटक है । सर्जनक्रम से यह कर्ता का अन्तिम नाटक है । कर्ता के जीवनकाल के दौरान इस नाटक का प्रकाशन शुरू हुआ था । लेकिन प्रकाशन की समाप्ति कर्ता के निधन के बाद अगस्त १९९१ में हुई । प्रकाशन में श्य १० और श्य १२ के बीच श्य ११ का प्रकाशन कोई भूल की वजह से हुआ नहीं है । 'संवित्' के मई १९८८ और फेब्रुआरी १९८९ को प्रकाशित अङ्कों की ओफप्रिन्ट्स में क्रमशः खण्ड १० और १२ के बीच कर्ता के स्वहस्त में लिखित खण्ड ११ वाँ मिला है जीसे नाटक की एकसूत्रता अभङ्ग रही है ।

२ नाटक का सामान्य स्वरूप :

'महावीरनिर्माणम्' १८ श्यों में विभक्त नाटक है । नाटक का विभाजन स्पष्ट रूप से अङ्को में हुआ नहीं है । हालाँ कि संवित् के अङ्को में 'पूर्वाङ्कितोऽनुवृत्तम्' ऐसी सूचना है । तथापि नाट्यकार की श्य ११ की हस्तप्रत में मात्र श्य का ११ वाँ क्रम हि लिखा गया है । इसे न तो अङ्क, न तो प्रवेश, न श्य

या न खण्ड कहा गया है । नाटक का जो स्वरूप है इससे लगता है कि कर्ता ने क्रम के अलावा श्यखण्डों का कोई नाम देना शायद उचित नहीं समझा है । इसे ' श्य' या 'प्रवेश' के नाम से ही पहचानना योग्य रहेगा । कई विभाग तो संस्कृत नाटकों के प्रवेशक-विष्कम्भक जैसे है । संस्कृत नाट्यशास्त्र की व्याख्या में यह परिभाषा हमेशा शायद उचित न भी हो सके । ऐसे श्य मात्र प्रसङ्गों को जोडती हुई कडी जैसे है । नाटक में करीब २६ श्लोक हैं । कहीं पद्य रचना गद्य स्वरूप में लिखी गई है । कर्ता ने अन्य नाटकों की तरह यहाँ भी कई विख्यात पद्य उद्धृत किये हैं ।

३ नाटक की कथा :

'महावीरनिर्वाणम्' में मूलतः वर्धमान नामधारी प्रसिद्ध जैन तीर्थङ्कर भगवान महावीर के जीवनचरित्र का निरूपण है । नाटक के मङ्गलस्तवन में जैन और वैदिक दर्शन का समन्वय करने का प्रयास है । नान्दी श्लोक जैसे तीन श्लोकों के बाद मुख्य श्य का आरंभ होता है ।

नाटक के प्रथम श्य में कालसर्पग्रहण और सर्पमारण का प्रसङ्ग है । वर्धमान एक शिला पर चिन्तन में बैठा है । पास में खेलते-झगडते बालक सर्प को देखकर भागने लगतें हैं । बालकों को निर्भयता की शिक्षा देने के लिये वर्धमान सर्प को पकडता है और झटके से पटक देता है जीससे सर्प मर जाता है । वर्धमान के सर्पग्रहण के बारे में जानकर चिन्तित हुए महाराज सिद्धार्थ और महाश्रमण इत्यादि वहाँ आतें हैं । सर्पहत्या के प्रसङ्ग से हिंसा-अहिंसा की मीमांसा चलने लगती है । वर्धमान के बडे भाई नन्दिवर्धन के मित्र गोशालक के प्रयास से सर्पहत्या जीवहिंसा होने के कारण वर्धमान दण्ड्य माना जाता है । यहाँ राजपद के लिए भावि प्रत्याशी के संदर्भ में चल रही गुप्त राजनीति का भी ईशारा मिलता है । वर्धमान सर्पहत्या का प्रायश्चित्त करने के लिये वृद्धजनों की आज्ञा स्वीकार करना उचित समजता है ।

द्वितीय श्य में राजज्योतिष, भारद्वाज, महाश्रमण और महाराज सिद्धार्थ सर्पहत्या के प्रायश्चित्त के विषय में परामर्श करतें हें । वर्धमान प्रायश्चित्त के लिये आठ दिन का अनशन करने का प्रस्ताव रखता है । अनशन निर्जल होना चाहिए ऐसे नन्दिवर्धन के आग्रह से राज्यासनप्राप्ति के लिये चल रही गुप्त राजनीति की पुष्टि मिलती है । वर्धमान राजनीति से अलिप्त है । वह निर्जल अनशन के लिये संमति प्रगट करता है ।

तृतीय श्य में राजनैतिक विवाद का निरूपण है । वर्धमान ही राजा बनना चाहिए ऐसे अभिप्राय भी व्यक्त होतें है । मगर नन्दिवर्धन ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण राजपद पर उसके अधिकार को माननेवाले लोक भी हैं । साथ में वर्धमान क्षत्रियाणीपुत्र है या ब्राह्मणीपुत्र है ऐसा विवाद भी बलवत्तर होता जाता है । मगर वर्धमान इससे अलिप्त रहकर अपनी ज्ञानोपार्जन की प्रवृत्ति में ही मग्न है ।

चतुर्थ श्य में वर्धमान की पत्नी यशोदा ने पुत्री को जन्म दिया है यह सुनकर वर्धमान प्रसन्न होता है क्यों कि इससे राजनैतिक प्रवाहों मन्द होने की संभवना उत्पन्न होती है ।

यशोदा के निधन के पाँच वर्ष बीत जाने के पश्चात् पाँचवे श्य में वर्धमान अपनी पञ्च वर्षीय पुत्री प्रियदर्शना के भविष्य के बारे में चिन्तित दिखाई देता है । हालाँ कि वर्धमान पुत्री का पिता होने से राजनैतिक प्रवृत्ति में थोडा परिवर्तन दिखाई देता है । वर्धमान की ज्ञान और मुक्ति के लिये उत्सुकता बढती है । वर्धमान योग के अभ्यास के लिये योगाचार्य पतञ्जलि के पास जाने का सोचता है ।

छठे श्य में योगाचार्य के आश्रम में भी वर्धमान की प्रवृति पर नजर रखने का प्रयास कुटिल राजनीतिज्ञों करते हैं । मगर योगाचार्य ने उन्हें दूर करतें हैं । वर्धमान योगाभ्यास में मग्न हो जाता है ।

सातवें श्य में वर्धमान के पिता महाराज सिद्धार्थ के निधन से राजनैतिक प्रपञ्च बढ जाता है । वर्धमान को अपना

प्रतिस्पर्धी मान कर नन्दिवर्धन उसे परास्त करने का प्रयास करता है । मगर भारद्वाज वर्धमान के पत्र से नन्दिवर्धन की आशङ्का को निर्मूल कर देता है । तब नन्दिवर्धन को पश्चात्ताप होता है और वर्धमान के साथ अपना व्यवहार विशुद्ध कर देता है । राजकीय प्रपञ्च नन्दिवर्धन के लिये तो समाप्त ही हो जाता है । नंदिवर्धन की बिनती का स्वीकार करते हुए वर्धमान संन्यासग्रहण का अपना निश्चय थाडे समय के लिये टाल देता है ।

आठवें श्य में संपत्ति का दान करके वर्धमान संन्यास ग्रहण करते हैं । प्रियदर्शना अब अठारा वर्ष की हो गई है । पिता के दीक्षा ग्रहण से प्रथम तो वह खिन्न हो जाती है, मगर प्रतिवर्ष एक बार दर्शन देने का पिता से वचन लेकर उत्साह से संपत्तिप्रदान कार्य में सहाय करती है । पिता की संपत्ति में से वह कुछ भी लेना नहीं चाहती । गोशालक को संपत्तिप्रदान की प्रवृत्ति मूर्खतापूर्ण लगती है ।

नवमें श्य में वर्धमान ने दिगम्बरत्व का स्वीकार कर लिया है । गोशालक साधु वेष में महावीर के पास आता है । महावीर को दिगम्बर देखकर विवाद करता है । वह वर्धमान को प्रथम पहचान न सका । मगर वर्धमान उसे पहचान लेतें है । बाद में वर्धमान को पहचानकर उनके द्वारा महासिद्धि प्राप्त करने की आशा से वह भी वस्त्रात्याग करने को उद्यत होता है । मगर वर्धमान उसको रोक लेतें हैं । वर्धमान के पास से सिद्धि प्राप्त करने के प्रलोभन से उनके प्रति शिष्यभाव बताता हुआ गोशालक उनके साथ चल पडता है ।

दशम श्य में दिगम्बर साधु को बालकों की हत्या करके खा जानेवाला चण्डकौशिक नामक राक्षस समजकर उनकी हत्या करने का प्रयास कतिचित् ग्रामवासी करतें हैं । गोशालक उनसे वर्धमान को बचाने का प्रयास करता हे । इस समय रक्षापुरुष आतें हैं और दोंनों को बन्दी बनातें हैं । मगर वहाँ सार्थवाह का समूह आता है । उसका महाजन वर्धमान को पहचानता है और दोनों को बन्धन मुक्त कराता है । चण्डकौशिक के बारे में

जानकर उसे मिलने के लिए ग्रामवासीओं द्वारा मना करने पर भी वर्धमान वन में प्रवेश करतें है । चमत्कार की अपेक्षा से गोशालक भी साथ में जाता है । ग्रामवासीओं इससे चिन्तित होकर ग्रामसुरक्षा की व्यवस्था करतें हैं । प्रभात होते ही वर्धमान ग्रामवासीओं से सन्धि करवाने के उद्देश्य से चण्डकौशिक को लेकर आतें हैं । चण्डकौशिक हिंसा त्यागकर श्रमणधर्म पालने का वचन देता है । परामर्श के बाद ग्रामवासीओं सन्धि का स्वीकार करतें हैं ।

ग्यारहवे श्य में कुछ सिद्धि प्राप्तकर के आजीवकसंप्रदाय का प्रवर्तक बना गोशालक वर्धमान को उसके साथ सन्मान से व्यवहार करने के लिये चेतावनी का संदेश भेजता है । चेतावनी न मानने से वर्धमान को दण्ड देने धमकी भी देता है । गोशालक के संदेश की वर्धमान उपेक्षा कर के ध्यानमग्न होतें हैं । इस समय दो गोपालक आकर मध्याह्नभोजन के लिये जाने से पूर्व अपनी गाय ध्यानमग्न वर्धमान को सौंप कर चले जातें हैं । वर्धमान तो अपने ध्यान में ही मग्न रहें । गाय वहाँ से कहीं चली जाती है । पश्चात् आकर अपनी गाय न मिलने पर गोपालक वर्धमान को तंग करतें है । फिर भी वर्धमान ने कोई प्रत्युत्तर नहीं देते है । तब वर्धमान को जगाने के लिये के गोपालक शूल से कानों में वेध करतें है । इस समय देवपुरुष आकर दोनों को भगा देता है । महावीर के शिष्य गौतम और आनन्द वर्धमान की शुश्रूषा करतें हैं ।

बारवें श्य में वर्धमान के महावीरत्व की प्राप्ति के समाचार लेकर देवर्षि नारद इन्द्रसभा में जातें हैं । सङ्गम नाम का देव महावीर की परीक्षा करने की इन्द्र से अनुमति लेता है । नारद उसे गोशालक की सहायता लेने का सूचन करतें हैं । सङ्गम वर्धमान की परीक्षा लेने के लिये भूलोक में आता है ।

तेरवें श्य में गोशालक महावीर को पराजित करने के लिये आने वाला है यह सुनकर भी महावीर की शान्ति को देखकर आनन्द आश्चर्यचकित होता है । महावीर उसे आज्ञा करतें है कि गोशालक कैसा भी व्यवहार करें फिर भी शिष्यों को

प्रतिकार किये बीना मौन रहकर सब कुछ देखते ही रहना है । गोशालक सङ्गम के साथ आकर महावीर से संघर्ष करने का आरंभ करता है । महावीर मौन तोड कर उससे संवाद करतें है । सङ्गम की सहायता से महावीर पर चमत्कार से प्रहार करने का गोशालक प्रयास करता है । परन्तु महावीर को जरा सी भी हानि पहूँचा न सका । इस समय महावीर के दो शिष्य सर्वानुभूति और सुनक्षत्र गोशालक के दुर्व्यवहार से व्यथित होकर उसको अवरोधने का प्रयास करतें हैं । गोशालक तेजोलेश्या का प्रयोग करके दोनों का वध करता है । बाद में इसी प्रयोग से महावीर को भस्म करने की चेष्टा करता है । परन्तु तेजोलेश्या के प्रयोग का भी महावीर पर कोई असर नहीं होता है । उसी कृच्छ्र प्रयोग से सात दिन में गोशालक की मृत्यु हो जाती है ।

चौदवें श्य में महावीर गौतम को संदेश देकर सुनक्षत्र की वृद्ध माता को सान्त्वना देने के लिये भेजतें हैं और गौतम को आशीर्वाद देतें हैं कि वह महावीर के साथ ही कैवल्य प्राप्त करेगा ।

पंद्रहवें श्य में महावीर का वर्षावास पूर्ण होता है । तीसरे प्रहर में वे प्रस्थान करनेवाले है । प्रस्थान के पूर्व शिष्य आनन्द उपदेश के लिये उत्सुक होकर महावीर को बिनती करता है । मगर उचित मुहूर्त न होने के कारण महावीर मना करते है । तब महावीर के दर्शन के लिये उनकी पुत्री प्रियदर्शना और जामाता जमालिन् आतें हैं । सब तात्त्विक चर्चा में व्यस्त होतें हें । उसी दौरान योगाचार्य के कालधर्म को प्राप्त हो जाने का संदेश मिलता है । और साथ में महावीर को मौन त्याग करने का उनका अन्तिम आदेश भी मिलता है ।

सोलहवे श्य में पावापुरी में भगवान् महावीर के प्रवचन के समाचार सुनकर वहाँ जा रहे जनसमुदाय का निरूपण हैं ।

सहत्तरवे श्य में महावीर का प्रवचन शुरू होता है । लोक परचित्तप्रवेश, तेजोलेश्या, देहोत्सर्ग, इत्यादि अद्‌भुत प्रयोग के लिये अपनी उत्सुकता प्रकट करतें हैं । सामान्य जनमानस एसा

चमत्कार रसिक ही होता है । तात्त्विक चिंतन-मनन में सामान्यजनों का मन नहीं लगता । महावीर तात्त्विक उपदेश के साथ लोकरुचि का सन्मान करतें हैं । तेजोलेश्या के प्रयोग के बाद देहोत्सर्ग प्रयोग सात दिन के बाद ही हो सकता है । इस लिए छे दिन मात्र प्रवचन होने की उद्‌घोषणा करतें हैं । तेजोलेश्य के प्रयोग के बाद अर्ध घटिका पश्चात् प्रवचन फिर से शरू होता है । इस समय एक बालिका आकर अपनी मातामही की अन्तिम इच्छा पूरी करने के लिये महावीर को अपने साथ ले जाती है ।

अठारवाँ श्य अन्तिम श्य है । दीपावली के दिन महावीर अपना अन्तिम उपदेश देतें हैं, और देहोत्सर्ग प्रयोग से निर्वाण प्राप्त करतें हैं । यहाँ 'महावीरनिर्वाणम्' नाटक समाप्त होता है ।

'महावीरनिर्वाणम्' नाटक कर्ता ने कब पूर्ण किया था यह स्पष्ट नहीं है । फिर भी नाटक का प्रकाशन अगस्त १९८६ से शुरू हुआ था । इससे ई. स. १९८६ के अगस्त के पूर्व नाट्यलेखन पूरा हो गया था ऐसा मानने में कोई बाधा नहीं है ।

४ नाटक की पात्रसृष्टि :

'महावीरनिर्वाणम्' नाटक की पात्रसृष्टि विपुल है । मुख्य पुरुष पात्रों में महावीर वर्धमान, वर्धमान के पिता महाराज सिद्धार्थ, महाराज का ज्येष्ठ पुत्र नन्दिवर्धन, वैदिक आचार्य भारद्वाज, जैन मुनि महाश्रमण, और आजीवकसंप्रदाय प्रवर्तक गोशालक है । योगाचार्य मुनि पतजलि भी छोटी किन्तु महत्त्वपूर्ण पुरुष पात्र की भूमिका निभातें हैं । कालातिक्रम दोष को दूर रखने की ष्टि से मूलतः पतञ्जलि को हि योगाचार्य नाम दिया है हालाँ कि संस्कृत साहित्य में ऐसे कालातिक्रम को दोष नहीं माना जाता । संस्कृत में भोजप्रबन्ध कालातिक्रम का प्रसिद्ध उदाहरण है । वर्धमान के शिष्य आनन्द, गौतम, सर्वानुभूति और सुनक्षत्र, वर्धमान का जामाता जमालिन्, राजज्योतिषी, वर्धमान के मित्र कौशिक, नेमिनाथ, इत्यादि गौण पुरुष पात्र हैं । तदुपरान्त चण्डकौशिक राक्षस, देवपुरुष, सङ्गम नामक देव, राजा हस्तिपाल,

राजा बिंबिसार, इत्यादि की अल्प भूमिका भी महत्त्वपूर्ण है । रक्षापुरुषों, रक्षाधिकारी, सार्थवाह महाजन, ग्रामजन, पुरजन, इन्द्र, देवर्षि नारद, अत्यन्त गौण पुरुष पात्र हैं । स्त्री पात्रों में वर्धमान की पुत्री प्रियदर्शना ही मुख्य है । वर्धमान की पत्नी यशोदा मात्र सूचित पात्र है । चेटी और बालिका के पात्र की भूमिका अत्यन्त छौटी है ।

५ नाटक का वस्तु :

'महानिर्वाणम्' भले ही जैन तीर्थंकर भगवान महावीर के जीवन का निरूपण करता हुआ नाटक है, फिर भी नाटक का वस्तु आर्यावर्त का समग्र तत्त्वदर्शन है । नाटक में वैदिक और जैन दर्शन के घनिष्ठ संबंध को निरूपित किया गया है । कर्ता ने अहिंसाधर्म और योग के महत्त्व को प्रस्थापित करने का सफल प्रयास किया है । तितिक्षा, निर्भयता और आत्मनिर्भरता के अभाव में महासिद्धि संभवित नहीं है यह नाटक का कथयितव्य है । मात्र जैन दर्शन ही नहीं, बल्के समग्र भारतीय दर्शन का मूल आत्मा ही नाटक की मुख्य विषयवस्तु है । कर्ता के अन्य नाटकों की तरह समन्वयात्मक तात्त्विक ष्टिबिंदु नाटक का प्रवृत्तिनिमित्त है । कर्ता का आशय वही प्रस्थापित करने का है कि तत्त्वज्ञान का अन्तिम ध्येय सद्भावना युक्त व्यवहार ही है । इस तरह कर्ता के तीनों नाटकों का उद्देश्य एक ही है ।

'महावीरनिर्वाणम्' की विवेचना करते हुए डॉ. प्रा. श्री राजेन्द्र नाणावटी[३] ने कहा हैं ''नाटक का उद्घाटन सर्प का वध करनेवाले एक निर्भय बालक के साथ होता है, और नाटक का अन्त 'अहिंसा परमो धर्मः । स एव सम्यगाचारः कैवल्यमार्गश्च' शब्दों से होता है । नाटक की कार्यगति हिंसा से पूर्ण अहिंसा की ओर है ।'' नाटक में हिंसा के विविध स्वरूप को स्पष्ट करते हुए श्री नाणावटीजी आगे कहतें है ''अहिंसा को जीवन का मूलगत - मौलिक - मूल्य के रूप में और योग के महत्त्व का निरूपण करके कर्ता वैदिक और जैन दर्शन का प्रगाढ संबंध

---

३ जनकशङ्कर दवे विरचित महावीरनिर्वाणम् : नाट्यस्वरूप विचार (व्याख्यान) डॉ. राजेन्द्र नाणावटी.

सिद्ध करतें हैं ।''

नाटक के स्वरूप की चर्चा करते हुए डॉ. प्रा. श्री राजेन्द्र नाणावटी महत्त्वपूर्ण कथन करतें हैं कि ''महावीरनिर्वाणम्' 'क्रोनिकल' (Chronicle) प्रकार का नाटक है । ईग्लेन्ड में इलिझाबेथ युगमें राफेल होलिनशेड जैसे लेखकों ने प्राचीन ऐतिहासिक व्यक्तिओं के जीवन की घटनाओं के आलेखन के लिए 'क्रोनिकल' (Chronicle) प्रकार की रचना की थी । परस्पर शिथिल गुंफन से जुडी प्रसङ्गशृंखला की ष्टि से 'महावीरनिर्वाणम्' को क्रोनिकल रचना मान सकतें है । ... यहाँ सभी प्रसङ्ग परस्पर संमिलित होकर बिना अपवाद एक केन्द्रिय कथावस्तु के विकास में ही प्रदान करतें रहतें हैं । 'महावीरनिर्वाणम्' के संबंध में 'शिथिल प्रसङ्ग गुंफन नाटक के वस्तु और निरूपण के लिये आवश्यक तो था हि । ... नाट्यवस्तु के अनुरूप एक नये नाट्यस्वरूप में आलेखन - निरूपण करने की हिंमत एक विचारशील सर्जक नाट्यकार की प्रतिभा और प्रगल्भता प्रकट करती है ।' मतलब यह है कि शिथिलत्व में भी अशिथिल ध्येयनिष्ठ एकरूप कार्यगति नाट्यस्वरूप को नया आयाम देता है । इसे नाटक क्रोनिकल स्वरूप का होने पर भी क्रोनिकल की शिथिलता की मर्यादाओं से बचा रहता है । प्रायः सभी नाट्यखण्ड स्वतंत्र रूप से एक स्वयंसंपूर्ण विभाग जैसे रहते हुए भी प्रत्येक खण्ड में एक अन्तरनिहित समान प्रवाह इसे एकत्व देता है । डॉ. प्रा. श्री राजेन्द्र नाणावटीजी अन्त में कहतें हैं कि ''यह एक उल्लेखनीय कृति है । स्वातंत्र्योत्तर संस्कृत साहित्य में गुजरात का महत्त्वपूर्ण प्रदान है ।''

४ समीक्षात्मक अवलोकन :

(१) प्रास्ताविक :

स्व. श्री जनकशङ्कर मनुशङ्कर दवे विरचित तीन संस्कृत नाटक 'शङ्करविजयम्', 'पूर्णं सप्तर्षिमण्डलम्' और 'महावीरनिर्वाणम्' दर्शनशास्त्र को ललित काव्य के नाट्य स्वरूप में निरूपित करने का प्रयास है । शास्त्रों को ललित काव्य स्वरूप में निरूपित

करने का प्रयास संस्कृत साहित्य में लम्बे अरसे से किया जा रहा है। ऐसे नाटकों को 'रूपकात्मक' नाटक कहते है । कम से कम ऐतिहासिक प्रमाण से माना जा सकता हे अश्वघोष के काल से यह प्रयास होता रहा है । अश्वघोष के महाकाव्य 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरनन्द' महाकाव्य के रूप में और 'शारिपुत्रप्रकरणम्' नाट्य स्वरूप में बौद्ध विचारधारा को ललित साहित्य के स्वरूप में निरूपित करने का ही प्रयास है । डॉ. ए. बी. कीथ[४] के नुसार "श्री हर्ष के 'नागानन्द' नाटक में बौद्ध धर्म का प्रभाव है । यशपाल रचित 'मोहराजपराजय' जैन विचारधारा का रूपक है । कृष्णमिश्र का 'प्रबोधचन्द्रोदय' विष्णुमार्गी अद्वैतवाद का समर्थन करता है । वेंकटनाथ रचित 'संकल्पसूर्योदय', कविकर्णपूर रचित 'चैतन्यचन्द्रोदय' भी तात्त्विक विषय के रूपक हैं । 'विद्यापरिणयन' और 'जीवानन्द' शैव संप्रदाय के रूपक हैं ।" श्री जनकशङ्कर के तीनों नाटक संस्कृत नाट्य साहित्य में रूपकात्मक नाटकों की प्राचीन परंपरा को आगे चलातें हैं । तथापि तीनों नाटक नीरस रूपकात्मकता तक सीमित न रहकर रसमय काव्यात्मकता से अलंकृत बने है । इससे अर्वाचीन संस्कृत नाटकों में भी अपना विशिष्ट स्थान बना लेतें है ।

(२) नाटकों के पद्यखण्ड :

तीनों नाटक मिल के करीब सौ पद्य रचनाएं हैं । इनमें से कई पद्य संस्कृत ग्रंथों या सुभाषितों से सीधे उद्धृत किये गयें हैं जो प्राय: कालिदास, भर्तृहरि, भगवद्गीता, शङ्कराचार्य के स्तोत्रों, इत्यादि से हैं । कभी पूरा श्लोक लिया गया है तो कभी अपने कथन के लिये पर्याप्त अंश ही लिया गया है । ऐसे पद्य को मौलिक रचना के रूप में प्रस्तुत करने का कहीं भी प्रयास नहीं किया गया है । खुले मन से औचित्यपूर्ण रूप से ऐसे पद्यों का स्वीकार किया गया है । उद्धृत पद्यों की संख्या कुल पद्यों से करीब एक तृतीयांश है । बाकी के पद्यों नाट्यकार की

४ संस्कृत नाटक, ए. बी. कीथ, गुजराती अनुवाद, अनुवाद कर्ता न. भो. पुरोहित, गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद, १९६०, पृ. ३५६-३६३

मौलिक रचनाएं हैं । ऐसे मौलिक पद्यों भी कहीं अर्वाचीन साहित्य की भाँति जानबूझ कर अधुरे छोडे गएँ है । सभी खण्डित रचना या उद्धरण का अधुरापन साभिप्राय जान पडता है । ऐसा प्रतीत होता है कि नाट्यकार अपनी जरूरत से एक शब्द तो क्या एक अक्षर भी ज्यादा लेना उचित नहीं समजते ।

(३) छंद :

मौलिक पद्य रचनाओं में अनुष्टुप्, वसंततिलका, मालिनी, शार्दूलविक्रीडित, शिखरिणी, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, मात्रासमक, इत्यादि छंद का प्रयोग है । 'शङ्करविजयम्' में लोरी जैसी रचना भी ध्यानाकर्षक है । कभी छंदोभङ्ग भी हुआ है । रचनाओं के खण्डित स्वरूप भी होने से छंद का विशेष पारिभाषिक विश्लेषण छोड देना ही उचित रहेगा ।

(४) अलङ्कार :

नाटकों में सा श्यमूलक अलङ्कारों का प्रयोग ध्यानार्ह है । उपमा और उत्प्रेक्षा का प्रयोग विपुल मात्रा में है । अन्योक्ति, श्लेष और विरोध अलङ्कार के प्रयोग भी प्रशंसनीय है । अलङ्ककारों के अमर्याद उपयोग का प्रलोभन कहीं भी नजर नहीं आता । आवश्यकता अनुसार अलङ्कार के प्रयोग से कृतियाँ आस्वाद्य बनी हैं । शङ्कराचार्य की शैली अनुसार विचार को स्पष्ट करने के लिये ष्टांत के कई प्रयोगों में कर्ता की विशेषता अभिनन्दनीय है ।

(५) भाषा :

नाट्यकर्ता की भाषा सरल, धारदार और प्रभावक है । संस्कृत भाषा के मोड, वाक्यशैली, विचारप्रवाह और भाववाहिता के अनुसार पदक्रम और इन समग्र अंशो का समुचित संयोजन तथा संस्कृत शैली के अनुरूप कर्ता ने संस्कृत भाषा का औचित्यपूर्ण प्रयोग किया हे । कर्ता का संस्कृत भाषा के साथ इतना गहरा परिचय प्रतीत होता है कि अगर बताया न जाय तो भाषा प्रयोग से शायद खयाल भी न आ सके कि यह अर्वाचीन कृति है । तथापि कहीं अपाणिनीय प्रयोग ध्यान में आये हैं । कभी कोई अभिव्यक्ति के लिये वैकल्पिक शब्द प्रयोग भी कौस

में दिखाई दिए हैं और इस पर कर्ता ने अपना अन्तिम निर्णय भी नहीं लिया है । वार्धक्य की विस्मृति, कभी असावधता, तो कभी उतावलेपन का यह परिणाम हो सकता है । लगता है कि कृति को अन्तिम स्पर्श देना भी बाकी रह गया था । मगर ऐसी क्षतियों के लिए सब से अधिक जिम्मेदार कर्ता के उपर नाटक के रचना काल में बढा हुआ राजनैतिक और कौटुंबिक दबाव हो सकता है । संपादन में एसी क्षतियों का उपाय किया गया है ।

(६) प्रभावक बल :

तीनों नाटकों में कर्ता की भाषा, शैली, चिंतन और समग्र आयोजन पर प्रभावक तत्त्व सरलता से दिखाई देतें हैं ।

कृति की भाषा पर कालिदास और भर्तृहरि का व्यापक प्रभाव है । कभी तो कालिदास के वाक्यखण्ड सीधे ही प्रयोजित किये गये हैं । मेनका-विश्वामित्र के प्रसङ्ग में शिव-पार्वती के प्रसङ्ग का उल्लेख हैं । कहीं 'रघुवंश' का प्रभाव भी है । भवभूति के 'उत्तररामचरितम्' और भर्तृहरि के शतकों का प्रभाव भी भाषा, शैली और चिन्तन के सन्दर्भ में स्पष्ट रूप से देखा जाता है । 'भगवद्गीता' तीनों नाटकों का संचारक तत्त्व है । 'भगवद्गीता' के विचार विपुल मात्रा में और कभी तो 'गीता' के अपने हि शब्दों में प्रस्तुत हुए हैं । शाङ्करवेदान्त का प्रभाव न केवल 'शङ्करविजयम्' में अपितु तीनों नाटकों में है । शङ्कराचार्य के स्तोत्र, गद्यशैली, चिंतन और तर्कपद्धति का प्रभाव भी तीनों नाटकों में है । संस्कृत व्याकरण के साथ कर्ता का परिचय प्रगाढ है । 'पूर्णं सप्तर्षिमण्डलम्' में नारद की प्रवृत्ति और याचना के संदर्भ में आत्मनेपद-परस्मैपद की क्रिया के विनोद में भी तात्त्विक ष्टि का महत्त्व है । सामान्य विनोद से भी गहरा तत्त्वचिंतन प्रगट होता है ।

राजनीति से कर्ता के संबंध का प्रभाव तीनों नाटकों में दिखाई देता है । तीनों नाटकों में राजकीय प्रवृत्ति का उपप्रवाह देखा जाता है । राजनैतिक खेल तीनों में क्रमशः बढता जाता है । चिंतन और व्यवहार दोंनों के निरूपण में राजनीति पर

महात्मा गांधी की विचारधारा का असर अत्यन्त प्रबल है । कर्ता खुद गांधीवाद के न केवल पुरस्कर्ता थे मगर अपने जीवन में भी गांधीविचार को सच्चे मन से चरितार्थ करने वाले उस युग के विशिष्ट निर्दम्भ व्यक्ति थे । गांधीवाद का प्रभाव कृति पर होना स्वाभाविक हि है ।

सभी कृतियों में पात्रों के व्यवहार का मानसशास्त्रीय विश्लेषण समुचित रूप से किया गया है । विफलता के किनारे पर खडे मेनका, क्रकच, गोशालक और बार बार हाथ से निकल जाते ब्रह्मर्षिपद के उत्कट अभिलाषी विश्वामित्र, नित्य शांत-शुद्ध वसिष्ठ-अरुंधती, सदा खुशहाल देवर्षि नारद, सभी के चिंतन, कथन और वर्तन में मानसशास्त्रीय ष्टि से निरूपण किया गया है । शङ्कर और वर्धमान के दार्शनिक विचार का विकास, विश्वामित्र के आचरण का वसिष्ठ द्वारा किया गया विश्लेषण, विश्वामित्र के प्रयोजन के आकलन में इन्द्र की भूल का मानसशास्त्रीय विश्लेषण, मेनका ने दिया हुआ नीविमोक्ष का खुलासा, परिवर्तन काल में खुद विश्वामित्र ने किया हुआ आत्मचिंतन, सभी प्रसङ्ग में कर्ता का मानसशास्त्र से जुडा नाता ष्टिगोचर होता है ।

मगर सभी नाटकों पर सब से अधिक प्रभाव तत्त्वज्ञान और व्यावहारिक समन्वय का ही रहा है । कोई भी सिद्धि में स्वपुरुषार्थ अनिवार्य है । परावलंबिता से कोई सिद्धि नहीं मिल सकती । सिद्धि उसे ही मिलती है जो आत्मनिर्भर हो । सम्यक् ज्ञान के लिये कुछ भी करना अनुचित नहीं है । करुणा, क्षमा और तितिक्षा महापद के लिए अनिवार्य गुण है । अहंकार और क्रोध के त्याग बिना महासिद्धि संभवित नहीं है । सत्य और सर्व के प्रति विश्वास ब्रह्मर्षिपद की विशेषता है । सर्वज्ञता आचार्यपद की अनिवार्यता है । निर्भयता महावीरत्व की अनिवार्यता है । तीनों सिद्धि के लिए रागद्वेष से पर होना आवश्यक है । आचार्यत्व, ब्रह्मर्षित्व या महावीरत्व - तीनों का अन्तिम ध्येय सर्वजनकल्याण है । विश्वकल्याण की भावना ही तीनों के लिए सर्वोपरि है । सर्व

सृष्टि का मूल एक ही है । व्यवहारशुद्धि के बिना तत्त्वज्ञान अपूर्ण है । तत्त्वज्ञान बिना व्यवहार अशुद्ध है । वही तीनों नाटकों का एकमात्र निष्कर्ष है । दोनों के समन्वय से ही ऐहिक सुख, आध्यात्मिक परम शान्ति और पूर्ण मुक्ति प्राप्त हो सकतें है ।

साथ में समग्र भारतीय दर्शन का समन्वय भी तीनों नाटकों मे दिखाई देता है । यहाँ तक की वैदिक और जैन दर्शन में भी कर्ता अत्यन्त साहचर्य का निरूपण करतें हैं । कर्ता आजीवन वैदिकधर्म के अनुयायी रहे थे । तथापि 'महावीरनिर्वाणम्' नाटक में जैन तीर्थंकर, धर्म और सिद्धांत के प्रति पूर्ण आदर प्रतीत होता है । इन नाट्यरचनाओं में सर्वधर्म के प्रति कर्ता के औदार्य और समभाव प्रकट होतें हैं । यहाँ भी गांधीयुग का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखता है । तीनों नाटकों में कर्ता का तत्त्वचिंतन और समाजदर्शन तात्त्विक और व्यावहारिक भूमिका उपर समरस बनकर विहरता है । नाटकों की यह विशेषता है । तीनों नाटकों में भारतीयदर्शन के वर्तमान युग के अनुरूप समुचित अर्थघटन ही समान विषयवस्तु है । तत्त्वज्ञान के निरूपण में गांधीविचार का प्रभाव हे । गांधीविचार का मूल भी भारतीय तत्त्वचिन्तन में ही है । परिणाम स्वरूप दोनों स्वाभाविकता से समरस हो सके हैं ।

(७)　**समापन :**

समग्रतया अर्वाचीन संस्कृत साहित्य में श्री जनकशङ्कर दवे के इन तीनों नाटकों का विशेष स्थान है । नाटकों की अभिनेयता भी उत्कृष्ट कोटि की है । हालाँ कि 'महावीरनिर्वाणम्' में कुछ समस्या है । खास करके महावीर जब से दिगम्बरत्व का स्वीकार करतें हैं तब से लेकर नाटक के अन्त तक महावीर के पात्र को रङ्गभूमि पर यथावत् प्रस्तुत करना संभवित नहीं हो सकता । इससे दिग्दर्शक को कोई खास प्रयुक्ति का आश्रय लेना आवश्यक बन जाता है । शेष दोनों नाटकों की रङ्गमञ्चप्रस्तुति में कोई अवरोध नहीं है । अभिनेयक्षमता में 'शङ्करविजयम्' और 'पूर्णं सप्तर्षिमण्डलम्' किसी भी अर्वाचीन नाट्यकृति के समकक्ष है । अर्वाचीन संस्कृत नाटकों में भी रङ्गमञ्चयोग्यता के मापदण्ड

से ये दोनों नाटक अपना उन्नत स्थान बनाये रखतें हैं ।

गुजरात के अर्वाचीन संस्कृत रूपक में इन तीनों नाटक का प्रदान सराहनीय है । खास कर के तत्त्वज्ञान जैसे कठिन और लोक ष्टि से नीरस विषय को लेकर तीन तीन रसमय और लोकभोग्य सर्जन कर्ता, गुजरात और संस्कृत साहित्य तीनों को विशेष गौरव प्रदान करतें हैं ।

इन नाटकों अर्वाचीन संस्कृत साहित्य में तात्त्विक विचारधाराओं के निरूपण की एक विशिष्ट दिशा का उद्घाटन करतें है । तत्त्वज्ञान और सांसरिक व्यवहार के समन्वय की विशेष ष्टि सभी नाटकों की एक समान देन है । प्रमाण स्वयं कृतियों से ही उपलब्ध होते हैं । शङ्कर बादरायण मुनि से कहतें हैं 'मृषा तज्ज्ञानं यद्व्यवहारं न परिशोधयति ।' विश्वामित्र सोचतें हैं 'दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशायैव ब्रह्मर्षिपदमिष्यते ।' और भगवान महावीर कहतें हैं 'सम्यगाचारो हि प्रमाणं सम्यज्ज्ञानस्य ।' तात्त्विक विचारधारा जैसे शास्त्रीय विषय के आधार पर ललित साहित्य का सफलता से सर्जन करना अत्यंत कठिन है । कला जगत में एक अभिप्राय 'कला के लिये कला' का है । इस ष्टि से साहित्य सर्जन में कलासर्जन ही उद्देश्य है । किन्तु श्री जनकशङ्कर की रचनाओं में साहित्य सर्जन साध्य नहीं अपितु साधन है । साध्य है रचनाकार का कथयितव्य । तत्त्वज्ञान और समाज का संबंध, भारतीय दर्शनों का सहसंबंध और समाजकल्याण ही सर्जन का साध्य है । यही साध्य के निरूपण के लिये साहित्य को कर्तानें साधन बनाया है । 'न हि इतिवृत्तमात्रेण कवेर्निवाहः ।' 'ऐसा हुआ' इतना ही कहने से कवि का कार्य समाप्त नही हो जाता । 'क्या है' के साथ 'क्या होना चाहिए' भी कविचिंतन का अंश है । इसी कारण यह कवि के निरूपण का भी अंश है । काव्यशास्त्र का यह सिद्धांत श्री जनकशङ्कर की रचनाओं में विशेष प्रभावक रहा है । श्री जनकशङ्कर ने शास्त्रीय विषय लेकर ललित वाङ्मय के सर्जन में प्रशंसापात्र सफलता प्राप्त की है और संस्कृत वाङ्मय में अपना चिरंतन स्थान बना लिया है ।

।। प्रथमं नाटकम् ।।

।। शङ्करविजयम् ।।

(३२-९८)

।। शङ्करविजयम् ।।

।। प्रथमोऽङ्कः ।।

उत्पत्तिस्थितिनाशकार्यकृतये त्रेधा विभक्तो विभु–
र्विश्वस्मिन्सकले स्थितोऽपि न जनैर्यो दृश्यते कुत्रचित् ।
नित्यः शुद्धविबुद्धमुक्तप्रकृतिर्मायी च मायाहर
आनन्दं विदधात्यसौ सुमनसां ब्रह्मप्रतिष्ठां च नः ।।१।।

[*नान्द्यन्ते नेपथ्ये सान्ध्यरागेण वेणुर्वाद्यते । मुहूर्तेन पटाक्षेपः । दृश्यते कालडी–ग्राममार्गः । दूरतः आरार्त्रिकारम्भः श्रूयते । मार्गे गच्छन्तस्त्रिचतुरो जना निश्चलीभूय नतमस्तका नेपथ्यगीतनुकारेण स्तुतिपाठं कुर्वन्ति ।*]

अर्धाङ्गे धृतसुन्दरीं क्षणमपि त्यक्तुं न यो कांक्षति
कामारिर्गदितस्तथापि विबुधैर्विश्वम्भरोऽवस्त्रकः ।
देवादेवगणा मिथो युयुधिरे पातुं सुधा त्वं पुनः
पीत्वा दुष्टविषं भुजङ्गवलयिन् भूतैः सदा नन्दसे ।।२।।
सुमनोमनुजैर्वन्द्यं यतीन्द्रं रोहितेक्षणम् ।
सेनानीजनकं देवं विश्वेशं त्रिपुरेश्वरम् ।।३।।
प्रज्ञानं शिवलोकस्थं चन्द्रलेखावतंसकम् ।
ज्योतीरूपं स्मृतिख्यातमाशुतोषं सदाशिवम् ।।४।।
वीरेशं निगमैर्गीतं सर्वेशं सर्वश्रेयसे ।
नमस्कृत्य प्रशंसामो मधुरां शाङ्करीं कथाम् ।।५।।

(*सहसा नेपथ्ये क्रन्दनं 'परित्रायतां परित्रायतामि'ति । स्तवमाना जना नेत्र उन्मील्येतस्ततो दृष्टिक्षेपं कुर्वन्ति । तेषाम्* –)

एकतमः – (*ससंभ्रमम्*) अये को न्वयं शरणाय क्रन्दति । (*क्रन्दनानुसारं विलोक्य*) एष खलु तत्रभवान् कालडीग्राम–ज्योतिर्वित्तमो विद्यानाथः साहाय्यार्थमुद्भ्रान्त इवेत आगच्छति । किमापतितं भवेत् । भवतु स्वयमेव तं पृच्छामः ।

(*ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टो विद्यानाथः ।*)

विद्यानाथः – अये को नु भो अत्र । महानुभावाः सर्वे रक्षन्त्वि–ममापत्सु मग्नं विप्रवरम् । (*इति रोदिति ।*)

प्रथमः – भगवन्, कथं रोदिषि । कथं चोद्भ्रान्त इव लक्ष्यसे ।

विद्यानाथः – भो मित्र शिवगुरो, महद्दुःखार्णवे पतितोऽहं रक्षितव्यः ।

द्वितीयो जनः - किं तद्दुःखम् ।

विद्यानाथः - स खलु दुष्टकापालिकः कपालमाली मे प्रियदुहितरमपहरति ।

शिवगुरुः - वर्धतेऽस्य संरम्भः प्रतिदिनम् । भवत्वधुनैव गच्छामि तव दुहितरं प्रत्यानयनाय । (*इति निष्क्रान्तः ।*)

विद्यानाथः - (*शेषाञ्जनान्प्रति कातरदृष्ट्या विलोक्य*) हा हतोऽस्मि । किं करोम्यधुना । हे भगवन् चन्द्रमौले, कोऽयं कलिकालप्रसरः । किं कृतं मया पूर्वजन्मन्यमर्यादवृत्तं यस्यायं परिपाकः । (*पुना रोदितुमारभते ।*)

अन्यतमः - समाश्वसिहि । भगवान् भूतभावनोऽन्ततोगत्वा सर्वथा श्रेयो विधास्यन्ति ।

द्वितीयः - गतोऽसौ शिवगुरुरसहाय एव कापालिकेन सह योद्धुम् । भावावेशशीलः स न किञ्चनातिसाहसं करोतु ।

अन्यतमः - अस्ताचलोन्मुखश्च भगवान्भास्करः । अपि नाम काचिन्नवतरा विपत्तिरापतेत् ।

विद्यानाथः - रक्षन्तु देवगणाः शिवगुरुम् । (*सर्वे सचिन्तं स्थिताः ।*) (*क्षणाच्च नेपथ्ये कलकलः । ततः प्रविशन्ति पञ्चशा जना आहतं शिवगुरुं स्कन्धे कृत्वा ।*)

नवागन्तुकानामेकः - भो महाननर्थः संजातः । तेन दुष्टकापालिकेन कठिनं प्रहतोऽत्रभवान् शिवगुरुः । (*स्कन्धेभ्यः शिवगुरुमवतार्य*) कुतोऽपि जलमानयन्तु झटिति ।

प्रथमोपस्थितेभ्य एकतमः - एषोऽहमानयामि । (*इति निष्क्रान्तः ।*)

द्वितीयः - तत्पर्यन्तं व्यजनं कुर्वन्तु भवन्तः । (*द्वित्रा जनाः स्वोपवस्त्रेण तं व्यजनं कर्तुमारभन्ते ।*)

विद्यानाथः - (*पुरुषानुपसृत्य पुनरपि क्रन्दितुमारभते ।*) हा धिक् हा धिक् । अधन्योऽस्मि ।

एकः - समाश्वसितु भवान् ।

शिवगुरुः - (*नेत्र उन्मील्य*) क्व गतः स जाल्म । गृह्यतां दृढरज्जुना च बध्यतां च स दुष्टः ।

विद्यानाथः - (*समीपमुपसृत्य*) भो मित्र, किमुद्भूतम् । मम कृते तवोपरि कथं कीदृशोऽयं वज्रपातः ।

शिवगुरुः – (*उत्थाय*) कुत्र सा कन्यका ।

नवागन्तुकेभ्य एकः – अपनीता सा बलात्कपालकमालिना ।

शिवगुरुः – तत्किं कुरुथ यूयं सर्वेऽत्र । अनुधावतां तं दुष्टमानयत च बालाम् ।

द्वितीयः – अलं साहसेन । न युक्तं रात्रिसमये कापालिकवनं प्रवेष्टुम् । प्रभात एव गच्छामः ।

तृतीयः – न पुनरयं त्वराप्रसङ्गः । रक्षितैव सा बाला कृष्णचतुर्दशीपर्यन्तं तन्त्रविधानेन ।

विद्यानाथः – भवतु । एवमेव करिष्यामः । पुनश्च किं सा स्वेच्छया गता बलाद्वापहृता । सर्वं सविस्तरं कथयितुमर्हन्ति भवन्तः ।

शिवगुरुः – अहमेव कथयामि । श्रुणोतु भवान् ।

पुरुषः – (*जलहस्तः प्रविश्य*) मा शक्तिक्षयं करोतु भवान् । पुनरपि मोहमुपगमिष्यति ।

शिवगुरुः – न भेतव्यम् । स्वस्थोऽस्म्यधुना । केवलं दक्षिणचरणक्षतो वेदनां जनयति ।

पुरुषः – पुनरपि जलं पीत्वा सुखासनेन वक्तुमर्हसि । (*शिवगुरुं जलं पाययति । ततः प्रविशन्ति केचिज्जनाः सुखासनं दीपं च गृहीत्वा ।*)

शिवगुरुः – (*आसनमुपविश्य*) अस्मात्स्थानान्निर्गतोऽहं ग्रामोपान्ते ता–वपश्यम् । मयाऽवरुद्ध सोऽवादीत् 'इयं कन्या षोडशवर्षीया स्वेच्छया मया सार्धमागच्छति । स्वयमेव पृच्छतु भवान्' इति ।

विद्यानाथः – शिव, शिव ।

शिवगुरुः – परं मया पृष्टा सा भीतभीतेवाधोमुखी न किमप्युच्चरति।

विद्यानाथः – ततस्ततः ।

शिवगुरुः – ततः सोऽवादीत् 'मूकभावस्तस्याः सम्मतिसूचकः ।' अहं त्ववदम् 'मूकभावो भयसूचक' इति । पश्चादस्माकमुग्र–विवादोऽभूत् । यदा स दुष्टकापालिको मां हन्तुं खड्गं निष्कासयति तदैव सा मम चरणावाश्लिष्यावोचत् – 'तात, त्वया सहाहं प्रतिनिवर्तिष्ये' तदैव स समीपमुपागमत् । अहं तु मुष्टिप्रहारेण तस्य खड्गमपाकृतवान् । परं पादलग्नकन्यका–

वशाच्चरणभ्रंशेन न्यपतम् । तदा सोऽकरुणो मम वक्षसि समुपविष्टो बलान्मम कण्ठं धृतवान् । दृढग्रहेण च तस्य व्यपगतचेतनोऽभवम् । पश्चात् किं वृत्तं न जाने ।

आगन्तुकेभ्य एकः - अतः परमहमेव कथयिष्यामि । सायंप्रार्थनासमाप्तौ शिवमन्दिरात्स्वैरं प्रतिनिवर्तमाना वयं दूरादेवैतयोर्मल्लयुद्धं दृष्ट्वा प्रधाविताः । परं स दुष्टोऽस्मानागतान् दृष्ट्वा तां कन्यां स्कन्धे कृत्वा वनं प्रति प्रद्रुतः । वयं तु शिवगुरुमपगतचेतन-मवलोक्य प्रवर्धमानमन्धकारं च विचार्य शिवगुरो रक्षायै सचिन्तास्तं स्कन्धे कृत्वा तं गेहं नयन्तोऽत्रोपस्थिताः ।

द्वितीयः- एतेषां कापालिकानामत्याचारो मर्यादामत्येति । अचिरेणैव कोऽप्युपायश्चिन्तितव्यः ।

तृतीयः - अद्यावधि तेषां प्रवृत्तिः शूद्रग्रामपर्यन्तमेवासीत् । अद्य तु विप्रग्रामं कालडीं च तैराक्रान्तम् ।

द्वितीयः - न चायं प्रथमोऽत्याचारः । षण्मासाभ्यन्तरेऽस्मिन्प्रदेशे त्वयं पञ्चमः प्रसङ्गः । प्रतिरात्रं श्रूयते डोम्बीगीतं युवतिजन-प्रलोभनाय ।

विद्यानाथः - क्व तत्पूर्वतान्त्रिकाणां सदाचारममत्वं क्व चेदमाधुनिकानां वामाचारशठत्वम् । मम कन्या त्वद्यापि बालिकेवानभिज्ञाता गीतसङ्केतानाम् ।

एकः -तत्र सन्देहः । कन्यकानां त्वशिक्षितपटुत्वमस्मिन्विषये ।

शिवगुरुः - अतिरेको विनाशाय । यदा कदाचिदपि वामाचारः प्रवर्धते तदा वाममार्गः स्वकर्मणैवात्मनाशाह्वाहनं करोति । द्रक्ष्यथाचिरादेव सर्वेषां नास्तिकमतानामुन्मूलनं भारतवर्षतः ।

अन्यतमः - अपेक्षते वसुन्धरा कञ्चिन्नूतनं भगवदवतारम् ।

विद्यानाथः - एतावत्येव प्रतिज्ञा भगवद्गीतास्वपि ।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।६।।

शिवगुरुः - तत्तु यथासमयं भवतु वा न वा । दैवमपि पुरुषार्थमपेक्षते । तस्मादहं त्वद्यप्रभृत्येव प्रयतिष्ये सततमेतेषां दुराचाराणां विनाशाय । प्रथमपदे जनपदसुरक्षाप्रबन्धः कर्तव्यः । अधुनैव

शिवमन्दिरे ग्रामपरिषत्कारयितव्या ।

सर्वे - वयमपि सहायास्तत्र । प्रथमं तु गृहं गन्तव्यं भवता सती-चिन्ताशमनाय ।

(*निष्क्रान्ताः सर्वे । शिवगुरुरपि विद्यानाथसहाय्येन मन्दं मन्दं गच्छति ।*)

।। इति प्रथमोऽङ्कः ।।

।। द्वितीयाङ्के प्रथमः प्रवेशः ।।

[*नेपथ्ये कानिचिद्वाद्यानि माध्यंदिनरागेण वाद्यन्ते । क्षणाच्च यवनिकोद्घाटनम् । रङ्गभूमौ कालडीग्रामस्य द्विजवासस्य स्वच्छो रथ्याविभागो श्यते । सन्मुखे गृहद्वारम् । द्वारसमीपं विद्यानाथो द्वाभ्यां पुरुषाभ्यां सह सुखासन उपविष्टो श्यते ।*]

विद्यानाथः - (*हरिहरायैकं पत्रं दत्वा*) हरिहर, इदं तच्छिवस्तोत्रम् । पठतु भवानुच्चैर्येन नटराजोऽपि श्रुणोतु ।

हरिहरः - मैवम् । नटराजः सङ्गीतज्ञः । स स्तोत्रं गास्यति । (*नटराजाय पत्रं ददाति ।*)

नटराजः - बाढम् । अहं गास्ये । हरिहरे पठति कदाचिच्छिवो मन्येत मे वृषभो गायति ।

हरिहरः - अधुना तु शङ्खध्मैवानुकरणायोत्सहेत । सतीपति तु मन्येत माध्यन्दिनपूजायै प्रस्तौति । (*सर्वे हसन्ति । नटराजो गायति ।*)

नटराजः -

यो देवो जनकः समग्रजगतां जन्मादिहेतुं दहन्
यः ख्यातश्च यतीन्द्र इत्यभिधया नार्यौ तनौ धारयन् ।
त्रिपुरारिस्त्रिपुराप्रियोऽपि च महान्कल्पातिवृत्तः शिवो
दैत्यैः साधुजनैः सुरैश्च सततं सम्पूजितः पातु नः ।।७।।

शिवस्त्वं तथा जीवरूपस्त्वमेव
भवस्त्वं तथा तस्य भङ्गस्त्वमेव ।
अविद्यापतिस्त्वं त्वविद्याविनाशी
अकल्प्यस्वभावः स्वयंभूरभूश्च ।।८।।

(*सहसा नेपथ्ये कांस्यस्थालीध्वनिः । त्रयोऽपि त औत्सुक्यं नाटयन्ति ।*)

विद्यानाथः - (*कर्णं दत्वा*) भो हरिहर, किं न्विदम् । कुतश्चायं कांस्यध्वनिः ।

हरिहरः- आर्य, कस्यापि मन्दिरे पुत्रसम्भव इति मन्ये । अयं तु नटराजस्तु पृच्छ्यताम् । स तु ग्रामवृत्तसञ्चारकः ।

नटराजः -श्रुणुमः शिवगुरोर्धमपत्नी समासन्नप्रसूतिर्वर्तते ।

विद्यानाथः – आ, स्मृतम् । (*नेपथ्याभिमुखं ष्ट्वा*) अथवेयमागच्छति भगवती शारदाम्बाऽत्रैव । तामेव पृच्छामः ।

(*ततः प्रविशति पञ्चाशद्वर्षीया नारी ससम्भ्रमं तान ष्ट्वैवाग्रे सञ्चरति ।*)

हरिहरः – (*समक्षमुपगम्य*)

चण्डे तपति घर्मांशौ वायौ दहति निश्चले ।
कुत्र गच्छति सावेगं भवती व्यथिता इव ।।९।।

शारदाम्बा – भो हरिहर, न विलम्बमपेक्षतेऽवसरः । तत्रभवतः शिवगुरोर्भार्यापुत्ररत्नमसूत साम्प्रतमेव । भाग्यवन्तौ अद्धा एतौ सतीशिवौ यौ पश्चिमे वयस्येवं पुत्रमुखदर्शनसुखं लब्धवन्तौ ।

विद्यानाथः – किं मुखदर्शनसुखमात्रेण ।

ओजसाऽमलया बुद्ध्या शीलेन विद्यया तथा ।
कुलं पुनाति पुत्रश्चेत्प्रसिद्धं खलु तत्सुखम् ।।१०।।

शारदाम्बा – सत्यमेवमेतत् । किं पुनस्तेन पुत्रेण यो न विद्वान्न धार्मिकः ।

हरिहरः – यथैष गोपालसूनुर्नटराजः ।

नटराजः – कथमिति स्वगेहं त्यक्त्वाऽन्यगेहं पृच्छसि ।

शारदाम्बा – उभावपि समानशीलौ युवाम् । परं चिरायिताऽस्मि व्यर्थालापेन । तद् गच्छामि । विज्ञापिताऽऽसं शिवगुरुणा बालस्य जन्माक्षराण्यधुनैव लेखितव्यानि ।

हरिहरः – आर्ये, अत्रैव तिष्ठति ज्योतिर्विद्याभूषणो विद्यानाथः ।

शारदाम्बा – अथ किम् । सोऽपि तत्रैवागच्छतु ।

नटराजः – आर्ये, वयं सर्वे समुत्सुका शिवगुरुमभिनन्दितुम् । त्वं पुनरग्रे भव । वयमपि मध्याह्नसन्ध्यां परिसमाप्य तत्रैवोपस्थास्यामः। आर्यास्तु विलम्बो मा भूदित्यामन्त्रयिष्ये ।

(*आर्याम्बा वाममार्गेणान्ये च दक्षिणमार्गेण निष्क्रान्ताः ।*)

।। इति द्वितीयाङ्के प्रथमः प्रवेशः ।।

।। द्वितीयाङ्के द्वितीयः प्रवेशः ।।

[*शिवगुरोर्मन्दिरप्राङ्गणम् । गोमयावलिप्तभित्तिभूमिकायां प्रवेशद्वारस्य दक्षिणे नन्दीचित्रम् । वामे चेतस्ततः पलायमानद्विरदकुले निपतितो हरेरालेखः । कदलीदण्डपुष्पपत्रमण्डितमस्ति प्रवेशद्वारम् । अनेकप्रस्तरणानि सुस्थापितानि दृश्यन्ते । नेपथ्ये मङ्गलगीतध्वनिः ।*]

कन्दर्पदर्पहर विष्णुविरञ्चिवन्द्य
स्वानन्दकन्द जननीजनकैकहृद्य ।
स्वप्ने च जागृतिसुषुप्तस्थितौ च रक्ष्य
रक्षन्तु त्वां सकलदेवगणाः सुविद्य ।।११।।
सुखं स्वपिहि उ सुखं स्वपिहि ।
हालाहलंप हालाहलहा उ हालाहलघ्न ।।१२।।

(*ततः प्रविशन्ति विद्यानाथदयः 'भो भो शिवगुरो' इत्युच्चैराक्रोशन्तः ।*)

शिवगुरुः - (*गृहान्निर्गत्य ससंभ्रमम्*) स्वागतं सर्वेभ्यो मित्रेभ्यः । यथेच्छमलंक्रियन्तां सुखासनानि ।

नटराजः- अयं हरिहरस्तु मलं करिष्यति तत्र ।

विद्यानाथः - अभिन्दनीयोऽसि यद् -

नटराजः - त्वया प्राप्ते वार्धक्ये -

हरिहरः - पुत्रमुखदर्शनं कृतम् ।

शिवगुरुः - अनुगृहीतोऽस्मि भवत्प्रसादेन ।

नटराजः - तर्हि सविस्तरं वर्णय । अपि स बालो नरो वानरो वा ।

हरिहरः - प्राप्तः स किं हनुमत्प्रसादेनवा तुम्बारुप्रसादेन वा ।

शिवगुरुः - पूर्वं भणितमेव भवतः प्रसादेनेति । (*सर्वे हसन्ति ।*)

विद्यानाथः - सर्वथा हरिप्रसादेन । (*पुनश्च हास्यम्*)

शिवगुरुः - ज्ञातुकामा भवन्तः स्वयमेव पश्यन्तु गृहं प्रविश्य । अहं त्वानन्दविह्वलो यथावद्वर्णयितुमसमर्थः ।

नटराजः - किं भवानानन्दविह्वलो वा नन्दनविह्वले वा ।

हरिहरः - तत्तु यथा त्वं हठराजोऽपि सन्नटराज इत्युच्यसे ।

नटराजः - त्वमपि लक्ष्मीशगौरीशधृतनामधेयोऽपि हरिहरण एवातिनिपुणः ।

शिवगुरुः - (*विद्यानाथं प्रति*) आवामभ्यन्तरं गच्छावः । एतौ तु वाग्युद्धनिपुणौ यथाकामं प्रलपताम् । (*विद्यानाथद्वितीयः शिवगुरुर्गृहं*

प्रविशति ।)

नटराजः - भावावेशशीलोऽसौ सम्प्रति पश्चिमे वयसि पुत्रं प्राप्य सत्यमेव हर्षविह्वलः ।

हरिहरः- सती तु प्रथममेव कथितवत्यासीद्यन्मम कुक्षौ भगवाञ्छंकरः स्वयमेवावतरिष्यति ।

नटराजः - सर्वाणि पुत्रवत्सलमातृहृदयानि तथैव मन्यन्ते । गेहे गेहे च नन्दभामिनी, गेहे गेहे च नन्दनन्दनः ।

हरिहरः - अस्मिंस्तु मङ्गलारम्भे विटगायकाश्चाहूयताम् । नटस्तु भवानेव विराजते ।

नटराजः - हरिस्तु विटो हरश्च ढक्कावादक इति प्रसिद्धम् । डाकिनीशाकिनीव दारदुहितृभिर्भवानेव नाटयतु कुमारसम्भवम् । (*उच्चैः प्रहसति ।*)

हरिहरः - (*सकोपं तारस्वरेण*) भो ज्ञानलवदुर्विदग्ध, कथं प्रलपसि यद्वा तद्वा ।

शारदाम्बा - (*गृहद्वाराद् बहिरागत्य*) के नु भो अत्र । अलं कल-कलेन । इदानीमेव सुप्तो बालो जागरिष्यति । (*नेपथ्ये बालरुदनम् ।*) पश्यतां भवद्विवादेन पुनरपि प्रबुद्धः सः ।

(*इति पुनरभ्यन्तरं गता । नटराजो मूकभावेन विविधविनोदचेष्टाः करोति । अनन्तरं शिवगुरुर्बहिरागच्छति विद्यानाथश्च । तदनु नेपथ्ये पुनर्गीतध्वनिः ।*)

मायोद्भवं जगत उत्थमकल्प्यदुःख-
मात्मौजसा दलनदक्ष महोदयार्क ।
कापालिकैः सुगतनास्तिकवादिभिश्च
मिथ्या शैः कलुष ष्टिभिरार्तिविघ्न ।।१३।।
रक्षन्तु त्वामुपनिषत्पुरुषाः परार्घ ।
सुखं स्वपिहि उ सुखं स्वपिहि
हालाहलंप हालाहलहा हालाहलघ्न ।।१४।।

शिवगुरुः - (*भावव्याकुलितस्वरेण*) श्रृणोषि किं कमपि दिव्यगीतध्वनिं मायोद्भवमित्यादिकम् ।

विद्यानाथः - न प्रस्फुटवर्णध्वनिं कमप्यश्रृणवम् । परं किञ्चिद्

दिव्यस्वरगुञ्जित-मासीत्तस्य पारणकसमीपं बालस्य ।

शिवगुरुः - आप्रभातमेव कानिचिदभूतपूर्वाणि सुमङ्गलानि निमित्तानि लक्ष्यन्ते । उषः काले सती स्वप्ने भगवन्तं भूतभावनं स्वमुखं प्रविशन्तमपश्यत् । अहमपि बहिःस्थितोऽपश्यं गङ्गापार्वत्याविव दिव्यरूपिण्यौ केचिदपरिचिते ललने गृहं प्रविशन्त्यौ । यदा च समीपमागतस्तदा नागते ते ष्टिपथं कुत्रचित् । आजन्मनस्तस्य बालस्य मुहुर्मुहुर्दिव्यसङ्गीतध्वनिश्च श्रूयते । अपि स बालः साक्षात् - (*इत्यर्धोक्ते भावावेगेन सगद्गदं तिष्ठति ।*)

विद्यानाथः - वयस्य, सत्यमेव धन्योऽसि महाभागोऽसि य ई शस्य बालस्य पिता । अयं तु भगवदवतार एवेति मे मतम् । किमपि न्वनन्यमुखगौरवम् । कोऽप्यनन्यतेजोविभवः । स्वयं भगव- न्पिनाक्यवतरितः स्याद्विनाशाय दुष्कृताम् । बृहस्पते-रिव सुविशालो भालप्रदेशस्तस्य ।

नटराजः - अपि विद्यानाथः सत्यं भणति विद्याविषयेऽनाथीकृतो वा स मायाकल्पितमद्भुतं पश्यति ।

हरिहरः - भूतं वाऽदभुतं वा स्वयमेव पश्यावः ।

(*उभौ गृहं प्रविशतः ।*)

शिवगुरुः - अत एव तस्य भविष्यञ्ज्ञातुं समुत्सुकोऽस्मि ।

विद्यानाथः - अहमपि तथैव तत्परः । भवतु अत्रैव जन्मकुण्डलीं विरचयामि । (*ललाटे दक्षिणतर्जनीं स्थापयित्वा मुहूर्तं तूष्णीं तिष्ठति ।*)

शिवगुरुः - (*स्वगतम्*) सर्वथा विद्यानाथवचनं सत्यं भवतु । पुत्रो मे जगत्तारको भूयात् ।

(*नेपथ्ये पुनरपि गीतध्वनिः ।*)

हे विश्वमङ्गल गुरो शिव पितृमातृ-
माङ्गल्यसौख्यप्रतिपालक दुर्दिनघ्न ।
ज्ञानोदधे धवलपद्मस्थितार्चिताङ्घ्रि
हे पद्मपमण्डनकरामलकादिपूज्य
रक्षन्तु त्वां वरुणशक्रकुबेरधर्माः ।।१५।।

सुखं स्वपिहि उ सुखं स्वपिहि ।
हालाहलंप हालाहलहा उ हालाहलघ्न ।।१६।।

विद्यानाथः – (*विचारतन्द्रया जागृत इव मन्दं मन्दम्*) वैशाखमासस्य शुक्लपञ्चम्यद्य । जन्मसमयो मध्याह्नक्षणः । तस्माज्जन्मराशिस्तु कुम्भः । मेषस्थितो रविस्तृतीये भावे विद्यते । बृहस्पतिश्च केन्द्रे कुजो मकरस्थः । सर्वमद्भुतमेव लक्ष्यते । तथापि समग्रतया सर्वशुभपरिणामकमिति मन्ये । भावचित्रं चित्रितव्यम् । पत्रलेखिन्यावानय । अत्यन्तसमुत्सुकोऽसि चेदत्रैवालिखामि भावचित्रम् ।

शिवगुरुः – एवमेव । (*द्वाराभिमुखं विलोक्य*) को नु भो अत्र ।

शिष्यः – (*प्रविश्य*) किमज्ञापयति गुरुः ।

शिवगुरुः – अहो धूम्रकेतो, पत्रलेखिन्यावानय सत्वरम् ।

शिष्यः – यदाज्ञापयति गुरुः । (*निष्क्रान्तः*)

शिवगुरुः – वयस्य, ममाद्यामर्यादानन्ददिवसः । परिरक्षितोऽस्मि नरकाद्घोरात् पुत्रमुखदर्शनेन । सदेहं स्वर्गं प्रापित इवा-नन्दितोऽस्मि । परिपूर्णाः सर्वे मनोरथाः । सफलं च जीवितम् । नाऽहं कांक्षेऽधुना दीर्घकालजीवनम् । कृतकृत्यमेव मन्य आत्मानम् ।

विद्यानाथः – अथ किम् । सखा ह जाया कृपणं दुहता पुत्रो हि ज्योतिः परमे व्योमन् । पुत्रपिता तु सदैव धन्यः । दुहितु-र्दुःखं त्वहमेव जाने ।

शिवगुरुः – भो मित्र, धैर्यमवलम्बस्व । विंशतितमे मासेऽपि न विस्मृतं किं दुहितृविरहदुःखम् ।

विद्यानाथः – अकरुणविधिविरचिता केचिद्व्रणाः प्राणान्तेऽपि न विस्मर्यन्ते ।

शिवगुरुः – अविमृश्य कृता एव प्रवृत्तयो भवितव्यतायै प्रायेणा-विनीतसत्त्ववतः शिशोरिव ।

(*धूमकेतुः पत्रलेखिनीहस्तः प्रविशति ।*)

धूम्रकेतुः – तात, इयमानीता लेखनसामग्री ।

शिवगुरुः – अत्रभवते विद्यानाथाय समर्पय ।

(धूम्रकेतुरर्पयित्वा निष्क्रामति ।)

विद्यानाथः - (*गृहीत्वा*) पश्याहमत्र विलिखामि बालस्यकुण्डलीं ग्रह-स्थानानि च ।

(*तत्क्षणमेव पञ्चषाः सौभाग्यवत्यो नार्यो मङ्गलं गायन्त्यो दक्षिणपथेनागत्य गृहद्वारं प्रविशन्ति ।*)

नार्यः - गीतानि गायन्तु सुमङ्गलानि गुरोर्गृहे पुत्रकजन्ममङ्गलम् ।
उत्सङ्गशृङ्गार इवास्य मातुस्त्रिलोकतापार्तित्रिराशीनाशी ।।१७।।

विद्यानाथः - कुण्डलीलेखकालेऽकस्माच्छ्रुतिपथमागतमिदं मङ्गलगीतमपि शुभनिमित्तमेव भवति । अयं केन्द्रस्थो बृहस्पतिः सूचयति यथा बालोऽयमतीव धीमांस्तेजस्वी विद्यासम्पन्नश्च भविष्यति । नायं बालः कोऽपि सामान्यरूपः । (*सहसा भ्रूभङ्गं नाटयित्वा-ऽक्षराणि गणयति । त्रिरेवं गणयति । पश्चाद् गम्भीरस्वरेण*) अस्योपवीतकर्मणि विलम्बो मा भूत् । पितृसुखं त्वस्याल्पम् । किन्त्वन्येषां ग्रहाणामत्यन्ततेजस्वीतया ... अथवा दर्शयतु भवतो हस्तरेखाम् । (*शिवगुरुर्वामहस्तं प्रसारयति । तदुज्झित्वा*) नायं, दक्षिणपाणिः । (*शिवगुरुर्दक्षिणपाणिः प्रसारयति । तं सुपरीक्ष्य*) बालस्यामङ्गलं पितृस्नेहो निवारयिष्यति । ... सप्तमेवर्षे पुनर्विद्यते भयस्थानम् । द्वादशस्थानस्थो मङ्गलः । स तु विविधापद उत्पादयिष्यति । तथापि कुम्भराशिर्मेषस्थश्चसूर्यः केन्द्रे गुरुः शुभंकरः । अतः स आत्मनोऽवतारहेतुं सफलीकर्तुं प्रभविष्यति । वैवस्वतमपि विफलमनोरथं करिष्यति । प्राणत्यागशूलापत्तिर्गृहत्यागकर्तृकेन सुनिवारा भवेत् । सुदीर्घ-प्रवासान्ते सुमहच्च यशः प्राप्नुयात् । (*पुनश्च सचिन्तनो गणयित्वा*) अद्भुतमेव सर्वमस्य शिशोः । प्रहसतीव ज्योतिर्विद्याम् । यथा यथा गणयामि तथा तथा च चक्रायते मतिः । अस्य ग्रहा यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह इव । न क्वचिन्निर्भरमाबध्नाति पदम् । लक्ष्मीं स तृण-वन्मंस्यते तथापि श्रीः सर्वदा देहच्छायेव तमन्वेष्यति । सप्तदशवर्षे राजसुखलाभस्तत्परित्यागश्च । तस्मिन्नेव वर्षे कस्याश्चिदत्यन्तमेधावत्यः नार्याः परिचयः । तस्या एव

प्रभावात्स्त्रीसुखच्छायाभावः । पुनरपि तत्सुखादलिप्तता च नैष्ठिकब्रह्मचर्याभङ्गयोगात् । सप्तदशे वर्षे पुनरपि बलवत्तरो घातस्तथापि तस्यापि निवृत्तिः । सर्वे परपक्षा बलवन्तस्तेभ्यस्तु बलवत्तराऽस्य मेधा । ई शेषु विद्यमानेषु बालोऽयं चक्रवर्ती भूमिपालो वा धर्मचक्रप्रवर्तको जगद्गुरुर्वा भविष्यति । बहुधाऽपरम् । यतो न सन्ततिसुखं श्यते कियदपि तस्य । तथानुष्ठास्यमाने कुलक्षयस्तव तेनैव सह । न जानामि त्वामभिनन्दामि वा समाश्वासयामि वा । अथवा किमाश्वासितेन । वरमेको विश्वख्यातः पुत्रो महात्मा न चैकसप्ततिवंशजानुक्रमः । नैको लक्ष्यते पराभवः पुत्रस्य । अथवा तिष्ठतु । एतदपि चित्रम् । एतस्मिन्नेव सप्तदशवर्षे एकत्र पराभवविजयलक्षणे श्येते । एता शेषु वर्तमानेषु ग्रहेषु न शक्यते किमपि सनिश्चयं गदितुम् । जैनागम इव राजयोगस्त्रीसम्भोगपरपक्षपराजयविजयादिषु स्यादस्ति स्यान्नास्तिवाद एव । किंबहुना । घातचिरंजीवितयोरप्येवमेव एतावदेव । ध्रुवं यद् बालोऽयमलौकिकभावो जगज्जेता त्रिभुवनकीर्तिः। पुनश्च स सर्वथा स्वावलम्बी न कस्यचिदन्यस्य साहाय्यमपेक्षते। तस्य मातृपितृगुरवस्तु निमित्तमात्रमेव । भद्र, नन्दस्व पुनः– पुनरपि नन्दस्व । पुत्रेण सह तस्य मातापितरावपि चिरन्तन–कीर्तिरवाप्स्यतः । नियतमेव त्वत्कुलकीतिर्दिनकरेण स्पर्धिष्यते । सहस्रवर्षेण कदाचिदी शी विभूतिः सम्भवति ।

नटराजः – (*प्रविश्य*) किमुक्तवानसि । (*प्रविशन्तं हरिहरं दर्शयित्वा*) ई शी तु कल्पान्तेऽपि न सम्भवति ।

हरिहरः – तेन किं त्वं कल्पान्तं श्रावयसि ।

विद्यानाथः – उभावप्येकस्मादेको बलीयांसौ । सदैव सहगामिनौ सदैव च योद्धुकामौ वृकोदरसुयोधनाविव ।

शिवगुरुः – दायदौ च । तथापि नैतदेतयोर्दोषः । युगप्रभाव एवैषः । स्वयम्प्रकाशे धर्मेऽपि विवादस्यैव प्राधान्यम् । त्वमेव तौ गृहपर्यन्तं नेष्यसि । नो चेन्मार्ग एव कुरुक्षेत्रं करिष्यतः ।

विद्यानाथः – खलः करोति दुर्वृत्तं नूनं फलति साधुषु ।

शिवगुरुः - न पुनर्भोजनाय त्वरध्वम् । कार्यभारान्निवृत्तो भोजनीयानि प्रेषयिष्ये ।

हरिहरः - सदक्षिणमेव ब्रह्मभोजनमिष्यते ।

नटराजः - एष नामाङ्गुलीयकदाने प्रकोष्ठग्रह इति ।

हरिहरः - अहं तु धर्मादेशमेव स्मारयामि । परमुदरम्भरेस्तव मोदकाहता धर्मकल्पना कुत्र । अवस्त्रामिव दक्षिणावर्ज्यं भोजनं न पूर्णफलमादत्ते ।

नटराजः - तुभ्यं किमपि दत्ते तवोदरबुभुक्षा न तृप्येत् ।

विद्यानाथः - तस्य निर्णयं मार्गे करिष्यामः । अधुना प्रस्थातव्यम् । चलित इव भगवान्भास्करो गगनमण्डलमध्यरेखाया ।

(निष्क्रान्ताः शिवगुरुमन्तरेण सर्वे । शिवगुरुस्तु कुण्डलीपत्रस्थिर ष्टिश्चित्रित इव ध्यानस्थः स्थितः । यवनिकाक्षेपः ।)

।। इति द्वितीयः प्रवेशो द्वितीयोऽङ्कश्च ।।

।। तृतीयोऽङ्कः ।।

[*पूर्णातटम् । रङ्गभूम्या मध्यतस्स्तोकं वाम एकः पिप्पलीवृक्षः । वृक्षस्य च्छायायां शिलायां बद्धासनः सप्तवर्षीयो बालः ।*]

बालः – (*विचारमग्न इव स्वगतम्*) अहो मन्त्रदर्शिणां किमपि भव्यदर्शनम् । भगवन् जातवेदस्, त्वमेव मे विद्यानिर्झरः । पश्यञ्जन्मानि सूर्य, त्वमसि विश्वस्य चक्षुस्त्वमेव ष्टा । वसुन्धराधृता सर्वा सृष्टिस्त्वत्तो जायते, त्वया जीवति, त्वय्येव लीयते । भो सवितर्, भो जगत्पितर्, भो मित्र, कति जन्मानि मम ष्टानि त्वया । तानि सर्वाणि न कथं मे निवेदयेः । अपि प्रभवति मे मनः कालपुरुषदर्शनाय । अथवा विश्वरूपदर्शनेन पार्थस्येव मे गतिः स्यात् । परम–ज्ञाननिमज्जितस्यापि का शान्तिः । अशान्तस्य च कुतः सुखम् । तत्सज्जोऽस्मि गङ्गाप्रपाताय शङ्कर इव ज्ञानप्रकाशौ–घाय । तदर्थं चैषोऽहममृतयोनौ सूर्ये ज्योतिषि जुहोम्यात्मानम् । स्वाहा (*क्षणं नेत्रे निमील्य स्थितः । पश्चात्* –) पश्य पश्य, कोऽयमाकाशे सहस्रसूर्यभास्वर तेजःपुञ्जः ।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य–
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ।।१८।।

अणोरणीयान्महतो महीयान्
द्यावापृथिव्यन्तरिक्षं सुव्याप्तः ।
नैकं पदं यत्र न तेऽस्ति सत्ता
नैकं क्षणं त्वद्विरहेण युक्तम्।।१९।।

आनन्दरूपस्त्वामनन्ततेजास्त्वमेव विश्वस्य परा प्रतिष्ठा ।
न किञ्चिदस्तीह भूतं भविष्यन्न यत्त्वदंशेन विनाकृतं स्यात् ।।२०।।

ष्ट्वा तवेदं च महिष्ठरूपं स्वल्पात्मभावं हि भजेयमद्य ।
कदा च विन्देय परां प्रतिष्ठामित्येवमद्धा व्यथितं मनो मे ।।२१।।

(*क्षणाच्च प्रविशत्यासन्नपञ्चविंशतिवयस्का युवती समवयस्को युवा च ।*)

युवा - तिष्ठ तिष्ठ वैजयन्ति । न तेऽस्ति करुणा मयि ।

शङ्करः - एतत्किं नवीननाटकम् । भवतु, वृक्षेणात्मानमाच्छाद्य पश्यामि । (*तथा कृत्वा*) एषा तु वैजयन्ती या पित्रा मे स्वात्मबलिना कापालिकमन्दिरान्मोचिता । एषोऽपि हरिहरपुत्रश्चन्द्रचूडः ।

वैजयन्ती - बाढम् । इयमहं स्थिता । कस्मान्मामी शं चिरादनुसरसि ।

चन्द्रचूडः - एकवारं निश्चितं ब्रूहि यदि त्वं मया सह गन्तुमिच्छसि वा न वा ।

वैजयन्ती - न हि, न हि, शतकृत्वो नैव ।

चन्द्रचूडः - अर्थात्त्वं पुनरपि पतिगृहं तेन जम्बूकरूपेण निवसितुम्-

वैजयन्ती - (*व्याजकोपेन*) अलं प्रलापेन । स तु मे पतिः ।

चन्द्रचूडः - केन गुणेनैवं लुब्धा तस्मिन् ।

वैजयन्ती - (*प्रहसन्ती*) कथं विस्मारितं भवता 'सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते' इति ।

चन्द्रचूडः - द्वित्रीणि वर्षाणि पतिगृहं स्थित्वा किमेवं परिवर्तनम् ।

वैजयन्ती - किं मे परिवर्तनम् ।

चन्द्रचूडः - सर्वमेव ।

यूयं वयं वयं यूयमित्यासीन्मतिरावयोः ।
किं जातमधुना येन यूयं यूयं वयं वयम् ।।२२।।

वैजयन्ती - (*विहस्य*) किं जातमिति । अधुना परमसौभाग्यवत्यहं पतिसेवापरायणा । जानासि किमहं तत्र कतमा सुखवती । नित्य नवनवानि दुकूलवस्त्राणि । अनेकाश्चालङ्काराः । नित्यं नवनवास्वादमधुराणि खाद्यपेयचोष्यलेह्यानीति चतुर्विधानि भोजनीयानि । चतुरश्वरथो विहाराय । अप्यपश्यः कदा तुरगान् । हस्तिसहवासेन तव बुद्धिरपि हस्तितनुरिव स्थूला सञ्जाता ।

चन्द्रचूडः - (*सव्यंग्यम्*) महत्तरं च सुखं तद्धस्तिदेहाश्लेषे ।

वैजयन्ती - मैवं कुप्य । कतिचिन्मासाभ्यन्तरे त्वामानाययिष्यामि सेवाव्याजेन । यदि च निपुणं वर्तेस्थास्तर्हि ममासि प्रियतम एव ।

चन्द्रचूडः - अपि चेन्नागच्छामि । किं ते प्रियतरम् । धनं वाऽहं वा ।

वैजयन्ती - (*विहस्य*) उभे ।

चन्द्रचूडः – परं तत्कथं सम्भवेत् । कथं मयाऽऽसन्नषष्टिवर्षीयः पिता त्याज्यः । मयि तत्रागते कथं स जीवितं धारयिष्यते ।

वैजयन्ती – का ते प्रियतरा । अहं वा पितृसेवा वा ।

चन्द्रचूडः – उभे ।

वैजयन्ती – अलीकमेतत् । अहमेव ते प्रियतरा । (*उच्छृंखलतया*) अहं भविष्यकथनं करोमि । मयि तत्र गतायां त्रिमासाभ्यन्तर एव त्वं मामन्वेष्यसि ।

शङ्करः – (*स्वगतम्*) शुनीमन्वेति श्वा ।

वैजयन्ती – तदवधि नमस्ते । (*निष्क्रान्ता*)

चन्द्रचूडः – हे चन्द्रमौले, किं मया कर्तव्यम् । अथवा पिता गच्छतु यमद्वारम् । विनाऽनया बालयाऽवस्थातुं न शक्नोमि । (*निष्क्रान्तः*)

शङ्करः – (*वृक्षान्तराद् बहिरागत्य*)

का तव कान्ता कस्ते पुत्रः संसारोऽयमतीव विचित्रः ।।२३।।

सा पतिं तृणवद् गणयति, अयं तु पितरम् ।

(*पुनरपि ध्यानस्थः पद्मासनं बध्नाति । क्षणान्नेपथ्ये दूरादिव 'शङ्कर भो शङ्कर' इति तारस्वरेण सम्बोधनं श्रूयते । क्षणाच्च प्रविश्यत्यत्रातत्र ष्टिक्षेपं कुर्वन्ती नवदशवर्षीया बाला ।*)

बाला – क्व गतः स शङ्करः । चिरं मार्गितोऽपि गृहरचनाक्रीडयै न श्यते । (*वामाभिमुखं ष्ट्वा*) अये, कोऽयं पिप्पली–वृक्षच्छायायामुपविष्टः । ननु स एव जाल्मः । (*उपसृत्य*) भो शङ्कर, किं करोष्वेकाक्युपविष्टः । मया सहागच्छ । दर्शयामि तुभ्यमस्मद् गृहं कति रमणीयं तत् ।

शङ्करः – (*ध्यानभङ्गं खिन्नतां च नाटयित्वा*) गच्छ त्वम् । न पुनराक्रोशेन मम समाधिं भिन्द्धि ।

बाला – अये, सकृदागत्य श्यतां तस्य रमणीयता । सुरम्यं पाक–गृहमपि विद्यते तत्र ।

शङ्करः – दूरमपसर । ध्यानं करोमि ।

बाला – ध्यानं तु पश्चात्करिष्यसि । अधुना मया सार्धमागच्छ ।

त्वत्कृते यज्ञशालाऽपि विरचिता ।

शङ्करः - निभृतं म आघटिकं ध्यानावकाशं देहि ।

बाला - ऊँ हूँ ।

शङ्करः - पादयोस्ते पतामि। गच्छ त्वम्। (*नमस्कारमुद्रां रचयति ।*)

बाला - ऊँ हूँ । (*सन्मुखं पद्मासनं बद्ध्वा*) नाहं गच्छामि । आ-गन्तव्यमेव त्वया ।

शङ्करः - (*ध्यानपरया ष्ट्या बालां ष्ट्वा*) अस्या अपि जन्म-जन्मान्तरानि व्यतीतानि स्युः । तेषु जन्मसु कुत्राभूत् किं चाकरोत्सा ।

बाला - (*भयं नाटयित्वा*) किं महामूर्ख इव पश्यस्येवं निष्पन्द ष्टया । समीपमुपवेष्टुमपि बिभेमि ।

शङ्करः - (*अश्रुण्वन्नेव तथैव निरीक्षमाणः स्वगतम्*) किं सा सदैव मया सहैव क्रीडिताऽऽसीद्वा 'यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयतां महादधौ, समेत्य च व्यपेयातां तन्न्यायेन क्षणिकसङ्गैव वा भवेत् ।

बाला - (*नेत्रे पिधाय*) मा त्वमेवमुद्भ्रान्त ष्ट्येक्षस्व । भीताऽस्मि वेप-मानाऽस्मि । गच्छेयं यदि त्वमेवमवलोकयसि ।

शङ्करः - (*स्वगतम्*) अस्या व्यपकरणाय प्राप्तो व्यपदेशः । (*अधिकविस्फारित-नेत्राभ्यां त्राटकमिव रचयति ।*)

बाला - देवास्त्वामभिरक्षन्तु । एषा पलायिताऽस्मि । अद्य प्रभृति त्वया सह न क्रीडिष्ये । (*निष्क्रान्ता*)

(*शङ्करः पुनरपि ध्यानस्थः पद्मासनं बध्नाति । ततो वृद्धत्वमापन्नो हरिहरः प्रविशति । व्याधिदुर्बलः सोऽत्यन्तवृद्ध इव लक्ष्यते । दण्डसहायश्च चलति । तं ष्ट्वा -*)

शङ्करः -

अङ्गं गलितं पलितं मुण्डं दशनविहीनं जातं तुण्डम् ।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डम् ।।२४।।

(*हरिहरः पथि गच्छन्स्खलति । शङ्करः समीपं गत्वा हस्तं गृह्णाति ।*)

शङ्करः - तात हरिहर, एष शङ्करः प्रणमति । अद्याप्यशक्त इव लक्ष्यते भवान् ।

हरिहरः – कोऽयम् । वत्स शङ्करः । वत्स, चिरं जीव ।

शङ्करः – तात, अनुगृहीतोऽस्मि । परं मया पृच्छ्यते कथमधुनाऽपि गलितशक्तिरिव ।

हरिहरः – वत्स, शक्तिक्षयस्य का कथा । आसन्नभूतव्याधिना म्रियमाण इवाभवम् । पूर्णपरिवत्सरं शयनस्थ एवानयम् ।

शङ्करः – जानामि तात, जानामि ।

हरिहरः – पलितं मुण्डं गलिता दन्ताः कृशीभूतं चाङ्गम् । कृच्छ्रेणैव जीवामि । दण्डाधारेण यथाकथञ्चिद् गच्छामि । (*क्षणं तूष्णीं स्थित्वा*) पुत्रः कुलाङ्गारः सर्वदोन्मार्गगामीहृदयदाह इव मां पीडयति ।

शङ्करः – अपि किञ्चित्सात्यं तस्मिञ्जनापवादे यत्स विषप्रयोगं कृतवानासीदिति ।

हरिहरः – अथ किम् । कस्याश्चिदनार्याया मोहजाले पतितः स तया सार्धं देशान्तरं पलायितुमिच्छति वृद्धपितरमेकाकिनमुज्झित्वा । तस्मात्स जीवतः पितुर्दायभागं वाञ्छति । 'मयि जीविते सति कपर्दिकामपि न लभेथा' इति कथितवति मयि मम मृत्यवे कृतोद्यमः स नराधमः । विषान्नं चाददत् । भो वत्स, विषमयोऽयं संसारः । काष्ठमोदक इव रङ्गरूपेण मनोहरोऽपि सुखोपभोगाय निरर्थकः ।

शङ्करः – तत्कथं न दीयतेऽनर्थमूलोऽर्थस्तस्मै येन स तुष्टो भवेत् ।

हरिहरः – का पुनर्मे गतिस्तत्पश्चात् ।

शङ्करः – संन्यासग्रहणम् ।

हरिहरः – कः पुनर्म उदरपोषणं करिष्यति ।

शङ्करः – परिव्राजकस्य तु वसुधैव कुटुम्बकम् । यत्र यत्र च भवान् गमिष्यति तत्र तत्र धर्मेरता गृहमेधिनो भवन्तं परिचरिष्यन्ति ।

हरिहरः –

यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवं परिषेवते ।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्त्यध्रुवं नष्टमेव च ।।२५।।

यदाऽस्मदीयोऽयं न गणयति तदा कथं विश्वसिमि युष्मत्प्रत्ययगोचरेष्वन्यतमेषु । भेदपटावस्मिन्संसारे स्वप्रत्ययबुद्धिरेव सत्या ।

परप्रत्ययबुद्धिस्तु मृगतृष्णिकैवदुःखान्तका । वृद्धवचनमाद्रियते चेत्तर्हि दूरत एव नमस्कुरु संसारम् । बहुतरं ष्टं मयैताभ्यां नेत्राभ्याम् ।

शङ्करः - तथास्तु । अनुगृहीतोऽस्मि । कुत्र गन्तुं चेच्छति भवान् ।

हरिहरः - शिवरात्रिपर्वण्यद्य भगवतो दर्शनाय निःसृत आसम् । परमतिक्रान्तवेलोऽधुनाऽस्मात्स्थानादेव निवर्तिष्ये ।

शङ्करः - अग्रे भवतु भवान् । गृहपर्यन्तं सेविष्ये ।

हरिहरः - कल्याणमस्तु । परं न गन्तव्यं मया सार्धं त्वया । न विद्यत आवश्यकता । मन्दं मन्दं गच्छामि । (*निष्क्रान्तः*)

शङ्करः -

अर्थमनर्थं भावय नित्यं नास्ति ततः सुखलेशः सत्यम् ।
पुत्रादपि धनभाजां भीतिः सर्वत्रैषा विहिता रीतिः ।।२६।।
वृद्धेनापि नितान्तसत्यं गदितं यदसारः खलु संसारः ।

तथा- पि सर्व एव पुनस्तस्मिन्नेव निमग्नाः ।

बालस्तावत्क्रीडासक्तस्तरुणस्तावत्तरुणीरक्तः ।
वृद्धस्तावच्चिन्तामग्नः परमे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः ।।२७।।

इतस्ततो विषयसुखाय प्रधावन्तस्ते कथं सत्यदर्शनं कुर्युः । कथं च सुखं विन्देयुः । अहं तु पुनरेव समाधिमाधास्ये । (*उपविशति क्षणं तुष्णीं स्थित्वा ।*) सत्यं वदति तत्रभवान् हरिहरः । सा बाला मयि स्नेहवत्यपि न जानाति माम् । अहमपि तस्या हृदयभावं न पारये । कोऽपि महान्विरोधो वर्तते युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोः पदार्थयोः । तत्पुनरपि ध्यानं करोमि । तपोद्वेषिणस्ते देवाः समाधौ पुनः पुनरपि बाधां जनयन्ति । भवतु । ध्यानं करोमि । (*नेत्रे निमिल्य*) भो विश्वचक्षुर्भगवन् सहस्रपाद,

कदा मे मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
कदा गन्तास्मि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ।।२८।।

तथा हि

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम् ।
इह संसारे खलु दुस्तारे कृपयाऽपारे पाहि मुरारे ।।२९।।

(*क्षणं ध्यानस्थः शान्तिं भजति । पुनश्च*) भो मरीचिमालिन्, त्वमेकं मे शरणमद्वितीयम् । शिष्यस्तेऽहम् । तवैवोपस्थानं ध्यानं च करोमि ।

ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् ।।३०।।

(*त्रिवारं मन्त्रं पठति ।*) दुःखरूपो हि संसारः त्याज्यः । मोहकलिलान्निर्गमनायैकैव तरणोपायः संन्यासः । एष एव मे निश्चयः । भवतु । अधुना माध्यन्दिनस्नानसन्ध्ये निर्वर्त्यगृहं गच्छामि । (*उत्थाय परिक्रम्य च नदीजलप्रवेशं नाटयति । नेपथ्ये 'वत्स शङ्कर, कुत्रासि । देहि मे प्रतिवचनम्' इति कस्याश्चिद्वृद्धायास्तारस्वरः श्रूयते ।*)

शंङ्करः - एषा तु जननी म आह्वयति ।

वृद्धा सती - (*विधवावेषेण प्रविश्य*) भो वत्स कुत्रासि । कथं प्रत्युत्तरं न ददासि ।

शङ्करः - (*स्वगतम्*) एषा मे माता ह्युपरते भर्तरि पुत्रस्नेहेन शान्तिं न कलयति । विना मोहनाशेन कथं सा संसारार्णवं तरिष्यति । ज्ञाना ते का धर्मबुद्धिः । विना धर्मबुद्ध्या कुतो मोहनाशः का स्थितप्रज्ञता का शान्तिर्वा । अशान्तायाश्च तस्याः सुखं वा तरणं वा ।

सती - (*इतस्ततो निरूप्य*) क्व गतो भवेत्स बटुः । तया बालया दिष्टं यत्स नद्यास्तटे ध्यानासनास्थितः । खिद्यते मे मनो दिने दिनेऽस्य चेष्टितं विलोक्य । अपरिचित इव, अपकृष्ट इव अनभिज्ञात इव स प्रत्यहं दुःखेन परिपाल्यते । अपह्रियत इव केनचिदज्ञातविधिना मे पार्श्वात् । बालोऽपि वृद्ध इव महापण्डित इवोपारूढगौरवो लक्ष्यते । भीतभीतमिव च मे मनः किं नूतनप्रस्तावं करिष्यति क्षणान्तरमिति । अविलम्बेन विवाहबन्धनेन बद्धव्यः । कुत्रोपविष्टो भवेत्स । (*तास्वरेण*) भो वत्स, भो बटो, भो भो शङ्कर ।

शङ्करः - (*जलमध्यादेव*) मातर्, अयमहमत्र माध्यन्दिनसन्ध्योपासनां करोमि ।

सती - मा त्वं विलम्बस्व । अति चिरायिताऽस्मि । मया रात्रि-महापूजायै बिल्वपत्रपुष्पमालानैवेद्यादिसम्भारव्यापाराय शिवमन्दिरं यातव्यम् ।

शङ्करः - तथा । (*ऊर्ध्वबाहू स्तौति ।*)
चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आ प्राद्यावा पृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।।३१।।
हे चराचराणामात्मन् कल्याणमार्गं मा त्वमुपदेशय । त्वमेव माता च पिता त्वमेव । त्वमेव च मे विद्या पश्यन्नैक जन्मानि च । ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ।। (*स्वगतम्*) कथं नन्वहं मातृहिताय जगद्धिताय स्वात्मशान्तये च प्रवर्ते । विषयमकरव्याकुलायाः संसारनद्या निर्गन्तुकामस्य मे किं संन्यास एवैकोपायः । कथं सा मम पुत्रवत्सला माता सन्यासायानुमन्येत । आः ष्टोपायः । कण्टकेनैव कण्टकन्यायेन मायापाशान्मोक्षाय मायैव रचयितव्या ।

सती - अतो जलान्निर्गच्छ । झटिति गृहं प्रस्थातव्यम् ।

शङ्करः - (*सहसा*) आः अम्ब, अल्ल, अक्क, गृहीतो मे पादः केनापि दुष्टग्राहेण (*मन्दस्वरेण*) मिथ्यासंसाररूपेण ।
(*पुनस्तारस्वरेण*) त्रायतां त्रायताम् ।

सती - (*ससंभ्रममितस्तो धावन्ती*) हे भगवन्, कोऽयं वज्रपातः । अरे को नु भो अत्र । त्रायध्वं ममैकं पुत्रं ग्राहमुखात् ।

शङ्करः -मातर्मातर्, अयं तु कर्षति । विना विलम्बं मोचय माम्

सती - (*आर्तस्वरेण*) वत्स, न कोऽपि श्यतेऽत्र सहायः । आः किं करोमि ।

शङ्करः - अम्ब, त्वमेव मे रक्षत्री ।

सती - किं करोम्यहं वृद्धाऽसहाया ।

शङ्करः - त्वमेव जलमध्यमवतर ।

सती - तथा कृते उभौ निमग्नौ युगपदेव म्रियावहे ।

शङ्करः - (*स्वगतम्*) कस्त्वं कोऽहं कुत आयातः । का मे जननी को मे तातः । (*प्रकाशम्*) अयि जननि न विलम्बमपेक्षतेऽयं

जलजन्तुः ।

सती - मम बलदानेन चेत्ते मोक्षो भवति तर्हि तदपि म इष्टम् ।

शङ्करः - तदा त्वेक एव रक्षामार्गः ।

सती - सत्वरं वद ।

शङ्करः - संन्यासग्रहणेन कदाचिन्नक्रोऽयं विमुञ्चेत् ।

सती - शान्तं पापम् । शान्तं पापम् । मैवं कदाचिज्जल्प । अहं तु तव विवाहं चिन्तयामि । पौत्रमुखदर्शनोत्तरमेवाहं सुखेन प्राणत्यागं करिष्ये ।

शङ्करः - परं नानुमन्यते दुष्टोऽयं कालः । संसारत्यागो वा जीवितत्यागो वा न तृतीयो विकल्पः ।

सती - शिव शिव भो मैवममङ्गलं वद । गृहाणैनं दण्डम् । अपसारय च वारिचरम् । (*दण्डं क्षिपति । तत्त्वर्धमार्गमेव पतति ।*)

शङ्करः - तव दण्डः स्वयमेवासहाय इव वहति जले । स कथं मां तारयिष्यति । अयं तु ग्राहः संन्यासदण्डेनैव म्रियते नान्यथा । आः बलान्नीये । अम्ब, जीवितरक्षायै म अनुगृह्णातु संन्यासानुमतिना ।

सती - आः दुर्दैव, कथं ममैकाकिनं पुत्रमपहरसि । स तु मे वृद्धाया एकैवाधारदण्डः ।

शङ्करः - (*चलितः सगद्गदम्*) भो मातर्, मैवं रोदिषि । सर्वनाशे समुत्पन्नेऽर्धं त्यजति पण्डितः । शीघ्रं कुरु ।

सती - भवतु । हे आशुतोष, हे पिनाकपाणे, पाहि अनाथाया मे जीवितसर्वस्वम् ।

शङ्करः - तदा संन्याससङ्कल्पं करोमि ।

सती - कुरुष्व दैवाराधनाय ।

शङ्करः - अत्राद्य मातृसवितृसाक्षिकोऽहं संन्यासदीक्षायै सङ्कल्पं करोमि । तेन श्री परमेश्वरः प्रियतां मम मातुः । आः पलायितः स मकरः । मुक्तोऽस्मि दुष्टनक्रग्रहाद् गजेन्द्रवत् । (*जलाद् बहिरागत्य सास्रं सत्याः पादयोः पतति । सती तमुत्थाप्य विलपन्ती परिष्वजते ।*)

सती - दिष्ट्या परिरक्षितोऽसि परमकृपालुना महेश्वरेण । सफलं मेऽद्य शिवरात्रिव्रतम् । तथापि न जाने नष्टलब्धपुत्रा वा लब्धपुत्रा वा लब्धनष्टपुत्रा वाऽहमद्य । पिण्डदानेन 'पुन्नाम नरकात् त्रायते' इति पुत्रः । अभागिन्यहं तु जीविते पुत्रे सति तेनान्त्येष्टिप्रियावञ्चता स्याम् । (*रोदिति ।*)

शङ्करः - मातर्, मा त्वं विलप । मम संन्यासग्रहणं सर्वजनत्राणाय । कथं स्यादश्रेयसे ते । सर्ववस्थासु त्वाग्निसंस्कारं स्वहस्तेन करिष्य इति प्रतिजानामि सूर्यसाक्ष्यात् । तदधुना गृहं गच्छावः ।

(निष्क्रान्तौ)

।। इति तृतीयोऽङ्कः ।।

।। चतुर्थाङ्के प्रथमः प्रवेशः ।।

[*नर्मदातटे पर्णकुटिः । प्राङ्गणे पादपीठिकासहितमुच्चासनं पञ्चषाश्च चतुष्पादिकाः । उच्चस्थाने पश्चिमावस्थास्थितः संन्यासी । चतुष्पादिकायामेकस्यामध्यासीन-श्चतुर्दशवर्षीयः संन्यासवेषधारी शङ्करः । शङ्करस्य हस्ते कानिचिद् भूर्जपत्राणि । यवनिकापसरादनु मुहूर्तं पठन्नेव स्थितः सः । पश्चादुन्मुखो भूत्वा गुरुं प्रति* -]

शङ्करः - आचार्यवर, किञ्चित्प्रष्टुकामोऽस्मि ।

गुरुः - निर्बन्धं पृच्छ्यताम् ।

शङ्करः - भगवत्पादो गौडपाद आह - 'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा । अनेन सूत्रेणैषोऽप्यर्थः सूचितः स्याद्यत्तु वर्तमाने विद्यते तदेवादावप्यासीदन्ते च भविष्यतीति ।

गुरुः - तत्र काऽऽपत्तिः ।

शङ्करः - वर्तमाने तु संसारो विद्यते भवांश्च विद्यते गुरुरूपेणाहमपि विद्ये पृथक्त्वेन शिष्यरूपेण । नो चेद्विद्यावितरणोऽयं व्यापारोऽयं मिथ्या भवेत् । अर्थादयं ससार एवानाद्यनन्तरूपो यथा जैना वदन्ति ।

गुरुः - मैवम् । आचार्यो भणति वर्तमानेऽपि केवलं ब्रह्म विद्यते। पृथगृपिणौ त्वं चाहं च मिथ्येति ।

शङ्करः - परमस्मत्प्रत्ययस्तु प्रत्यक्ष एव । न तन्नकारयितव्यम् ।

गुरुः - आचार्यस्तु विवक्षति यथाऽलातचक्रे दह्यमानकाष्ठमेवादावासीदन्ते च तस्यैव सत्ता तथा वर्तमाने सत्यमलातमेव तस्य चक्राकारस्तु मिथ्याऽऽभासमात्रस्तथैव सनातनप्रत्यक्षोऽस्मत्प्रत्यय एव सत्यस्तस्य बहुरूपित्वं च मिथ्येति ।

शङ्करः - अस्मत्प्रत्ययोऽपि युष्मत्प्रत्ययेन विना कथं संभाव्यते । तस्माद्युष्मत्प्रत्ययोऽपि सत्य एव । विना गतिं चक्राकारोऽपि न शक्यते । अत आकारो मिथ्या भवेत्परं गतिस्तु सत्यरूपा ।

गुरुः - वस, एतद्विचारितव्यम् ।

शङ्करः - अन्यदपि प्रष्टव्यम् । अपि सिद्धान्तरूपेण गृह्येतैतद्यच्छक्यमा-वश्यकं च तत्सदपीति ।

गुरुः - व्याचक्ष्व ।

शङ्करः - किमपि तर्केण सम्भाव्यसिद्धं स्यादनुभवप्रत्यक्षेण चावश्यकमिव च यथाऽऽलातस्य गतिमत्वम् । किमिति तत्परमार्थेन सत्यमिति गृह्यते । अथ गृह्येत चेत्परमेश्वरसत्ताऽनुमानेनापि सरलसिद्धं भवेत् ।

गुरुः - वत्स, तुष्टोऽस्मि तवानया नवनवोन्मेषशालिन्या मेधया । तव बुद्धिर्जागरिता । पूर्णश्च म आचार्यधर्मः । अधुना गत्वा काशीं तत्रभवन्तमाचार्यं बादरायणं प्रसादय । स तव शङ्कां निवर्तिष्यति । त्वां चाचार्यपदवीमधिरिष्यति । ममाशिषा जगद्गुरुत्वं च प्राप्स्यसि । शिवास्ते पन्थानः सन्तु । (*शङ्करो गुरोः पादयोः पतति ।*)

शङ्करः - सर्वदा गोविन्दाचार्यशिष्यरूपेणैव ख्यातो भवेयम् ।

गुरुः - (*प्रसन्नभावेन*) तथाऽस्तु । (*आशिषमुद्रां रचयति ।*)

।। इति चतुर्थाङ्के प्रथमः प्रवेशः ।।

।। चतुर्थाङ्के द्वितीयः प्रवेश ।।

[*वाराणसी नगरोपान्तः । नगरजना इतस्ततः स्वकार्यार्थे गमनागमनं कुर्वन्ति । दक्षिणे ध्यानस्थः कोऽपि मुनिः । वामे विश्वनाथमन्दिरस्य प्रवेशद्वारम् ।*]

शङ्करः – एषोऽहं धर्मचक्रप्रवर्तिनीं मुक्तिपुरीं वाराणसीं समागतः । धन्योऽस्म्यद्य । धन्ये च मे चक्षुषी । प्रथमं तावज्ज्योतिर्लिङ्गभूत-विश्वेश्वरदर्शनेनात्मानं पुनामि । पश्चाद् भगवत्पादमाचार्य-बादरायणमुपगच्छामि । (*परिक्रम्य*) एतदेव विश्वनाथमन्दिरम् । तावत्प्रविशामि । (*प्रवेशद्वारमुपसर्पति ।*)

नेपथ्ये उद्घोषणा – श्रुणुत रे पौराः । आगामिन्यां कृष्णचतुर्दश्यां मणि-कर्णिकावतार आराधितभैरवस्य महाकापालिकस्याध्यक्षतायां नरमेधमहापर्वणो मङ्गलारम्भो भविष्यति । सर्वे भाविकजनास्तत्र दर्शननिमित्तं निमन्त्र्यन्ते ।

शङ्करः – (*उद्घोषणां श्रुत्वा*) शान्तं पापम् । केयं धर्मपुर्यां महा-पापमयी प्रवृत्तिः । भवतु । रोधिष्ये भगवत्प्रसादात्तन्नरबलियज्ञम् । (*द्वारं प्रविविष्टः ।*)

(*गतागतिकं कुर्वतां जनानां कलकलः ।*)

प्रथमपौरजनः – श्रूयतेऽष्टाधिकशतं जना मृत्युमुखं प्रवेक्ष्यन्ति तस्मिन्महापर्वणि ।

(*नेपथ्ये घण्टारवो मृष्टकण्ठेन स्तोत्रपाठश्च श्रूयते ।*)

द्वितीयः पौरजनः – क्षणं शान्तिं भजतु भवान् । कोऽपि गन्धर्वो विश्वनाथं स्तौतीति तर्कयामि । (*नेपथे स्तुतिपाठः ।*)

पूर्णस्यावाहनं कुत्र सर्वाधारस्य चासनम् ।
स्वच्छस्य पाद्यमर्घ्यं च शुद्धस्याचमनं कुतः ।।३२।।
निर्मलस्य कुतः स्नानं वस्त्रं विश्वोदरस्य च ।
निरालम्बास्योपवीतं पुष्पं निर्वासनस्य च ।।३३।।
निर्लेपस्य कुतो गन्धो रम्यस्याभरणं कुतः ।
नित्यतृप्तस्य नैवेद्यं ताम्बूलं च कुतो विभो ।।३४।।
प्रदक्षिणा ह्यनन्तस्य ह्यद्वयस्य कुतो नतिः ।
वेदवाक्यैरवेद्यस्य कुतः स्तोत्रं विधीयते ।।३५।।

प्रथमः - कोऽयं मृष्टकण्ठो मधुरालापोऽपूर्वपदरचनाव्यञ्जना-युतस्तोत्रकारी । ननु द्रष्टव्यो भवेत् ।

द्वितीयः - केनाप्यागन्तुकेन भाव्यम् । (*प्रविशन्तं शङ्करं दर्शयित्वा*) ननु स एव बटुशरीरोऽपि महातेजा व्यक्तिविशेषः ।

शङ्करः - (*उपसृत्य*) भो महानुभावाः श्रुता किं भवद्भिस्तन्नरमेध-सम्बन्धिन्युद्घोषणा ।

प्रथमः - अथ किम् ।

शङ्करः - अपि ज्ञायते किञ्चिदपि नरमेधायोजनस्य वा तस्य महा-कापालिकस्य वृत्तम् ।

द्वितीयः - अस्मिन्नगरे नैकोऽपि यो न जानाति महाकापालिकवृत्तम् ।

प्रथमः - (*तृतीयं पुरुषं दर्शयित्वा*) अयं महाभागस्तु विशेषज्ञः । तत्सकाशाच्छृणुमः ।

तृतीयः - स महाकापालिको दशाश्वमेधावतारे निवसति । अस्य वाममन्दिरे सहस्रावधिः शिष्यसमुदायः । दक्षिणपथजन्मा स प्रथमं बौद्ध आसीदिति श्रूयते । मद्यमांसमैथुनमुद्रामहासुखमिति पञ्चमकारसेवनमुपदिशति । मन्दिराधिष्ठात्री मणिभद्रा नाम योगिन्यपि ख्याता ।

प्रथमः - तस्य कापालिकस्यैकः शिष्यो मम मित्रम् । स मामेकदा निभृतमकथयत् 'मणिभद्रा नाम योगनी पूर्वाश्रमे कस्यचित्कोटिपति-श्रेष्ठिनः कुटुम्बनी वैजयन्तीत्यभिधाना ।

शङ्करः - (*सविस्मयौत्सुक्यम्*) यत्किञ्चिज्जानाति तत्सर्वं कथयतु । (*स्वगतम्*) अपि स महाकापालिकश्चन्द्रचूडो भवेत् ।

प्रथमः - अतः परं न कथञ्चिज्ज्ञायते ।

शङ्करः - यः कोऽपि स्यात् । (*स्वगतम्*) न ते मिथ्यापुरुषाः किमपि मदनिष्टं कर्तुं शक्ष्यन्ति ।

द्वितीयः - काशीराजः प्रतिवर्षमेकवारं नरमेधानुमतिं यच्छति ।

शङ्करः - श्रूयते काशीराजस्तु महाधार्मिकः ।

तृतीयः - तन्न निरर्थकम् । जनपदेषु पुनरेतेषां महाकापालिकानां महाप्रभावो नरमेधे च जनपदानां महती श्रद्धा ।

प्रथमः - खड्गहस्तास्ते यत्किमपि विज्ञापयन्ते प्रकृतयस्तेभ्यो ददति ।

शङ्करः – कथं महाराजो हिंसामनुमन्यते ।

द्वितीयः – लोकानां धर्मभावभङ्गो मा भूदिति कृत्वा सम्मतिं दर्शय–तीति मे तर्कः ।

प्रथमः – आगामिनि सत्रे नवरात्रावष्टाधिकशतं पुरुषा मेधबलिर्भविष्यन्ति तेषां षोडश युवानः काशीवासिन एवेति जनवार्ता ।

शङ्करः – भवन्तो न किमुपरुन्धन्ति तदनाचारम् ।

प्रथमः – अब्रह्मण्यमब्रह्मण्यम् । कः पुनरधन्यो दुःसाहसं मनसाऽपि चिन्तयेत् । विरोधिनस्तु तृणवदुत्खाद्यन्ते । यदि ते कृषि–वलास्तेषां धान्यं नश्यति । यदि व्यवहारिणस्तर्हि सार्थवाहास्तेषां क्षीयन्ते पोतानि समुद्राम्भसि निमज्जन्ति । यदि क्षत्रिया रणे मृत्युमाप्नुवन्ति । धनधान्यगृहाणि विनश्यन्ति । सम्बाधिनश्च परिवर्जयन्ति । नो चेत्त एव मृत्युमुखं प्रविशन्ति ।

शङ्करः – अप्येतावत्साहसं तेषाम् । श्रृणुत रे नगरजनाः, अयमहं विश्वनाथसाक्षित्वे प्रकटप्रतिज्ञां करोमि यदहं दक्षाध्वरं शम्भुरिव तत्पुरुषाध्वरं भङ्क्ष्यामि ।

चतुर्थः जनः – यद्येवं तर्हि महदुपकृतो भवेयम् । ते पापा मम पुत्रमप्य–पाहरन् ।

पञ्चमः पुरुषः – (*सोपहासम्*) शशव्याघ्रयोः कैव स्पर्धा । (*इति हसति ।*)

अन्ये पुरुषाः – (*भीतभीता इव*) अयं तु कोऽप्युद्भ्रान्त इव लक्ष्यते । कः पुनस्तृणानामग्निना विरोधः । सत्वरं पलायन्ताम् । कापालिक–शिष्यप्रमुखा एते राजमार्गाः । अपि नाम काचिदापत्तिरापतेत् । (*पलायितुं प्रारब्धाः ।*)

शङ्करः – (*सोपेक्षम्*) यथेच्छं गच्छन्तु । प्रथमं त्वादिशन्तु कुत्र वसति तत्रभवान् बादरायणाचार्यः ।

चतुर्थः पुरुषः – एष सन्मुखमेव पद्मासनमध्यास्ते ध्यानस्थः स महात्मा । उपसर्पतु भवान् ।

शङ्करः – अनुगृहीतोऽस्मि । अधुना तमेव गच्छामि । (*पराक्रमति। द्वित्राः पुरुषाः शङ्करमनुगच्छन्ति । अन्ये पलायिताः । मुनिमुपसृत्य –*) भो मुनिवर, प्रसीदन्तु भवन्तः । एषोऽहं

भगवद्गोविन्दाचार्यशिष्यः शङ्करो भवतश्चरणौ वन्दे ।

मुनिः - वत्स, प्रसन्नोऽस्मि । प्रागेव ते ख्यातिर्मामासादिता । तवैव प्रतीक्षां करोमि । अपि कुशली वेदान्तकोविदो नर्मदातटनिवासी तत्रभवाङ्गोविन्दाचार्यः । अपि सुखश्च ते दीर्घप्रवासः ।

शङ्करः - कुशलौ गुरुशिष्यौ द्वावपि भवत्प्रसादेन ।

मुनिः - इदमासनमुपविश्यताम् । प्रत्यहं विश्वनाथसान्निध्ये ध्यानायागच्छामि । निवृत्तोऽस्मि साम्प्रतं समाधितः । क्षणादेव वयमाश्रमं प्रति निवर्तिष्यावहे ।

शङ्करः - (*आसनमुपविश्य*) भगवत्पाद, किमपि प्रष्टुकामोऽस्मि ।

मुनिः - वत्स, निर्बन्धेन वद ।

शङ्करः - भगवन्, अनेकवर्षैः काश्यां स्थितस्य भगवतः कथं ते कापालिका नरमेधमहापापं प्रवर्तन्ते ।

मुनिः - वत्स, अहं तु तपःस्वाध्यायसाधन एव । सत्यशोधनमेव मे कर्म, न धर्मप्रवर्तनम् । अपि च एते कापालिका अपि धर्मकांक्षिणः ।

शङ्करः - प्राणघाते को धर्मः स्यात् ।

मुनिः - भिन्नत्वेन रुचीणां भिन्नाचारो लोकः । रुचीणां वैचित्र्याजुकुटिलनानापथजुषां तु नराणां तदेकमेव परब्रह्म गम्यस्थानं सर्वजलानां समुद्र इव ।

शङ्करः - प्राणघातोऽपि धर्मश्चेत्तत्पुनः का धर्माधर्मविवेकता, सत्यासत्यविशेषो वा । नायं प्रज्ञावादः सत्यशोधकस्य शोभते । मृषा तज्ज्ञानं यद्व्यवहारं न परिशोधयति ।

मुनिः - (*विहस्य*) तपः क्षमैव बलं ब्राह्मणस्य, न कलहः ।

शङ्करः - भगवन्, अनाचारप्रतिकारे कलहोऽपीष्टः ।

मुनिः - का ते चिकीर्षा ।

शङ्करः - देहि म आशिषम् । अहं रोधयिष्ये विधर्मम् ।

मुनिः - वत्स, सफलमानोरथो भव । परं संस्कारकरणेऽपि तथा प्रवर्तेथा यथा बुद्धिभेदो न जायते जनानाम् ।

शङ्करः - यद्येषा भवतामीप्सा तर्हि काशीराजदर्शनं कारयतु भवान् ।

मुनिः - एवमस्तु । राजकुलमेव गच्छावः । (*निष्क्रान्तौ*)

(अन्ये जन अपि परस्परं संलपन्तो निष्क्रान्ताः ।)

।। इति चतुर्थाङ्के द्वितीयः प्रवेशः ।।

।। चतुर्थाङ्के तृतीयः प्रवेशः ।।

[*मणिकर्णिकावतारमार्गे सुमहान्संरम्भः । जनानां प्रवाहो गतागतिकं कुर्वन्नास्ते । समीप एव केचित्पौराः संवदन्ते ।*]

प्रथमः पौरजनः - श्रूयते काशीराजः स्वयं यज्ञमलङ्करिष्यतीति ।

द्वितीयः - तत्तु विस्मयकारकम् । यद्यपि महाराजः प्रतिवर्षमाज्ञापत्रिकां ददाति तथापि नरबलिं स न बहुमन्यत इति श्रुणमः।

तृतीयः - किमपि सविशेषं स्यात् ।

चतुर्थः - अस्मिन्समये धर्मविवादस्यापि योजनेति किंवदन्ती ।

पञ्चमः - भो मित्र, ततोऽप्यधिकम् ।

द्वितीयश्चतुर्थश्च - (*युगपद्*) किमेतत् ।

पञ्चमः - बलीयसी जनवार्ता यत्स बटुर्योविश्वनाथसन्निध्ये नर-मेधभङ्गाय प्रतिज्ञातवान्स काशीराजं मिलित्वा किमपि नियोजित-वानस्ति ।

प्रथमः - नाहं तस्मिन् विश्वस्तः । क्व ते प्रचण्डकाया यमाकृतयः कापालिकाः क्व च स पञ्चदशवर्षीयः सुकुमारदेहधारी बटुः । क्व मदमलिनगण्डा गजराजाः क्व च मसृणतनु शशकः ।

तृतीयः - एष आगच्छति काशीराजः सपरिवारः संलपंस्तेन बटुक-संन्यासिना सह ।

(*ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टकर्मा सपरिवारो महाराजः शङ्करेण सह ।*)

प्रतिहारी- भो भो नगरजनाः, अपसर्पन्तु भवन्तः । एष धर्मप्रतिपालकः काशीश्वर विश्वनाथप्रियो महादेवभक्तः काशीराजः कापालिक-योजितयज्ञभूमिं गच्छति । (*नगरजनानुत्सारयति।*)

सर्वे नगरजनाः - जयतु जयतु महाराजः ।

(*सपरिवारः शङ्करद्वितीयो महाराजः पौरजनैरनुसृतो निष्क्रान्तः ।*)

।। इति चतुर्थाङ्के तृतीयः प्रवेशः ।।

।। चतुर्थाङ्के चतुर्थः प्रवेशः ।।

[*मणिकर्णिकावतारः । रङ्गभूमौ वामार्धे यज्ञप्रस्तावः । दक्षिणे प्रवेशमार्गः । नेपथ्ये 'जयतु जयतु काशीराजः' इति कलकलः । क्षणाच्च प्रविष्टः पौरजनानुसृतः काशीराजः शङ्करश्च । यज्ञपुरोहिताः पुरो गत्वा महाराजमर्घ्येण संपूजयन्ति । पश्चाच्च महाराजं महार्हासनं नीत्वोपवेशयन्ति । महाराजः शङ्करमावाह्य पार्श्वं उपवेशयति । रक्षिणोऽन्तरेण प्रतिपालयन्ति ।*]

काशीराजः – (*प्रधानपुरोहितमुद्दिश्य*) अयि याज्ञिकप्रवर, अपि सम्भ्रीयते सर्वं यथायोग्यम् । यदि किमपि न्यूनं भवेत्तर्हि विज्ञापयितव्यम् ।

पुरोहितः – महाराजप्रसादेन सर्वमप्यनूनम् ।

काशीराजः – (*क्षणं स्थित्वा*) भो आर्य, कथं नागतोऽधुनाप्याचार्यो महाकापालिकः । मया सन्दिष्टमासीद्यदद्य प्राग्यज्ञप्रारम्भा-द्धर्मविवादो रचयितव्यः ।

पुरोहितः – आचार्यदिशं गृहीत्वाऽगतो दूतो भवदाज्ञामेव प्रतीक्षते ।

काशीराजः – प्रवेश्यतां दूतः ।

दूतः – (*समीपमुपसृत्य*) जयतु महाराजः ।

काशीराजः – किं सन्दिष्टं तत्रभवताऽऽचार्येण ।

दूतः – जानात्येव महाराजो यथार्थवादिनो दूतस्य दोषो न करणीयः । तत्रभवता महाकापालिकेन सन्दिष्टं यन्मकारसेवने व्यवसिता वयमाप्रहररात्रं यज्ञभूमिं न प्रविशामः । सैव परम्परा । कस्यचिदज्ञातपञ्चदशवर्षीयबटोः सार्धं विवादाय परम्परा न भञ्जनीया । अपमानिताश्च वयं तस्य यज्ञभङ्गाय प्रकटप्रतिज्ञया । कुशलं चेदिच्छति काशीराजस्तस्य बटोस्तर्हि स सत्वरं काशीत्यागायादेष्टव्यः । तथापि सिद्धाश्रममुनी राज्याश्रममुनेः काशीराजस्य मर्यादां प्रतिपालयिष्यति । यदि विनाशकालप्रेरितः स हठी विवादायैव तुलितः शिष्योऽयं मे क्रकचो विवदिष्यत्य-स्मत्पक्षे । स एव तं जेष्यति ।

शङ्करः – (*विहस्य*) दूत गच्छ त्वम् । ब्रूहि च तं कापालिकं यद्येष ते निश्चयस्तर्हि शिष्यपराजये तवाऽपि पराजयो घोषितो भवेत् । न पुनर्मखारम्भो भविष्यति वादपूर्वम् । (*क्षणं स्थित्वा*)

अपिचातिदर्पो विनाशाय । लब्धापि वैजयन्ती विप्रलभते मदोन्मत्तजनम् ।

काशीराजः - तथा हि गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः । तस्मादनुपस्थित आचार्ये शिष्यपराजये सकलसिद्धमार्गस्य पराभवोऽस्माभिर्घोषितव्यो भवति । एषा राजाज्ञा ।

दूतः - यदाज्ञापयति महाराजः । (*निष्क्रान्तः*)

काशीराजः - क्रकचमुपस्थाप्यताम् ।

क्रकचः - एषोऽहमुपस्थितः ।

काशीराजः - स्वागतं भवते । इदमासनमास्यताम् । (*पार्श्वासिनं दर्शयति । क्रकच उपविशति । तदनु* -) अपि प्रस्तुतो भवान्वादाय ।

क्रकचः - गुरोर्महाकापालिकस्याशिषा प्रतिक्षणमहं प्रस्तुत एव सुषुप्तिदशायामपि ।

शङ्करः - तेन हि खलु मिथ्यावादः सम्भवति ।

क्रकचः - मिथ्याऽमिथ्यात्वं वाद एव साधयितव्यम् ।

काशीराजः - तात शङ्कर, त्वमपि प्रस्तुत एवेति मन्ये ।

शङ्करः - अथ किम् ।

काशीराजः - ततो भो पुरोहितप्रवर, वादारम्भस्योद्घोषणा कार्यताम् ।

(*पुरोहितो यथा विज्ञप्तं करोति । सभाजना अपि यथास्थानमुपविशन्ति ।*)

उद्घोषकः - श्रृणुत रे सभाजनाः । अद्य कापालिकानां महापर्वनिमित्तं प्राग्यज्ञारम्भं वेदान्तकोविदाचार्यगोविन्दाचार्यशिष्यकुमारसंन्यासि-शङ्करस्य च सिद्धमार्गप्रकाण्डाचार्यमहाकापालिकशिष्यपण्डित-प्रवरक्रकचस्य च धर्मवाद आरभ्यते श्रीमत्काशीराजादेशात् । तद्धर्मजिज्ञासुभिरवधानेन स्थियताम् ।

काशीराजः - को नु भो मध्यस्थः ।

क्रकचः - महाराज एव मध्यस्थो भवेदिति मे प्रस्तावः ।

शङ्करः - ओम् । स्वीकृतं मया ।

(*काशीराजो मध्यासनमुपविशति । तस्य दक्षिणे शङ्करो वामे च क्रकचः । पुरोहितः द्वयोरपि प्रतिस्पर्धिनोः कण्ठयोर्माले अर्पयति ।*)

काशीराजः - कः पूर्वपक्षो भवितुमर्हति ।

क्रकचः – अहं पूर्वपक्षं गृह्णामि, उत्तरपक्षस्य निरर्थकत्वात् ।

शङ्करः – बाढम् । अनुकुलोऽस्मि ।

क्रकचः – 'सर्वं क्षणिकं क्षणिकं धर्मा ते' इति मे प्रतिज्ञा ।

शङ्करः – ततः किम् ।

क्रकचः – तस्माद्यज्ञादिधर्मा एव सनातनाः सनातनत्वे च कर्तव्याः ।

शङ्करः – साध्यतां प्रतिज्ञा ।

क्रकचः – यत्र यत्र परिवर्तनत्वं तत्र तत्र क्षणिकत्वं सन्ध्यासौन्दर्यवत् । इह संसारे धर्मा ते सर्वं परिवर्तनशीलम् । तस्माद्धर्म एव सनातनः । अन्यत्सर्वं क्षणिकं क्षणिकम् ।

शङ्करः – अत्रापत्तिः ।

क्रकचः – कैव ।

शङ्करः – धर्मस्यासम्भावनारूपा ।

क्रकचः – कथमिव । धर्मस्तु सनातनः सर्वथा ।

शङ्करः – परिवर्तनं नाम द्विदशम् । पूर्वावस्था उत्तरावस्था च । कस्य ते द्वेदशे ।

क्रकचः – ननु सर्वेषां पदार्थानाम् ।

शङ्करः – परं पूर्वोत्तरे ते न समं सम्भवतः । क्षणान्तरमेव कल्पनीयम् । तस्मात्सर्वपदार्था द्विक्षणिकाः । तस्माच्च न किमपि क्षणिकम् । (*सभाजना हर्षनादं कुर्वन्ति ।*) अपि च सर्वस्मिन्क्षणे सति कः केन कं कस्माच्च धर्ममाचरेत । यज्ञविधावपि कः केन यजेत् । (*पुनरपि हर्षनादः।*)

क्रकचः – तिष्ठतु, तिष्ठतु । क्षणिकपुरुषस्तत्क्षणसमुद्भवं धर्ममाचरेदिति न कामप्यापत्तिं पश्यामि । 'धर्मस्य त्वरिता गतिः ।' 'गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेद'त्यादयः स्मृतयश्च ।

शङ्करः – कथमिति क्षणिकपुरुषः सनातनधर्माय प्रवर्तेत । अपरं च धर्मकल्पकश्च धर्मकारी च क्षणिकवादे भिन्नावेव ।

क्रकचः – तत्र काऽऽपत्तिः । धर्म एव सुरक्षणीयः । तस्य कर्तॄणां तु गौणत्वम् ।

शङ्करः – यद्यन्येषां धर्मकल्पनेऽन्यश्चाधिकारः स्वीक्रियते भवता तर्हि कापालिकमतमुज्झित्वा शङ्करमतं गृहाणेति तव धर्माय

ममादेशः । (*सर्वे जना उच्चैः हर्षनादं कुर्वन्ति ।*)

क्रकचः - परं यं त्वमादिशः स क्रकचस्त्वधुना न विद्यते ।

शङ्करः - तेन तु वाद एव निरर्थकः । यतो वादारम्भे यः क्रकचः प्रतिज्ञातवान् स न विद्यते साम्प्रतम् । यश्च श्रुणोत्यधुना न क्षणान्तर उपस्थितो भवेत् ।

क्रकचः - तत्र मे न कोऽपि बाधः ।

शङ्करः - अस्त्येव । यतोऽनेनैव तव तर्केण कापालिकशिष्यत्वमपि नष्टम् । येन त्वं दीक्षितः स कापालिको नष्टो यश्च शिष्यत्वे दीक्षितः स च तेनैव सह गतः । (सर्वे परिहसन्ति ।) अन्यच्च ।

काशीराजः - (*सौत्सुक्यम्*) अन्यदपि किम् ।

शङ्करः - यदाकदा कोऽपि क्रकचो भवेत्तदर्थं धर्मादेशस्तु सनातनः कापालिकमतं परित्यज्य शाङ्करमतस्य ग्रहणाय । धर्मसनातनत्व उभयपक्षयोरैकमतेन चान्यकल्पितधर्मेऽन्याधिकारस्य तव मतेन च ।

(*सभाजना हर्षोन्मादेन विविधान्ध्वनीन्कुर्वन्ति । क्रकचोऽवाक् तिष्ठति ।*)

काशीराजः - भो महासिद्ध, प्रत्युत्तरं दातुमर्हसि ।

शङ्करः - (*सोपहासम्*) कं कस्मै दद्यात् । सिद्धस्य सिद्धत्वं परिगलितं क्षणिकत्वात् । (*क्रकचस्तथाप्यवाङ्मुखस्तिष्ठति।*)

काशीराजः - पञ्चक्षणैः प्रत्युत्तरो दातव्यः । नो चेत्पराजयो घोषितव्यः ।

शङ्करः - (*विहस्य*) पञ्चक्षणैस्तु तस्य पञ्चजन्मानि सम्भविष्यन्ति । (*पुनरपि हास्यकलकलः ।*)

काशीराजः - एकम्, द्वि, त्रि, चतुर् ... ।

(*तत्क्षणमेवोद्धृतखड्गेन शिष्यमण्डलेन परिवृतो क्रोधाध्मातो महाकापालिकः प्रविशति ।*)

महाकापालिकः - (*प्रविश्यन्नेव*) आः कोऽयं विद्यालवदुर्विदग्धः कुतर्कचतुरो वाचाटो ममेष्टिविघ्नं जनयति ।

शङ्करः - त्वमेव स यो तत्पुरुषं पुराणं वर्जयित्वा कुकर्मधारणेन तवेष्टिरूपं विघ्नं जनयसि लोकानाम् ।

काशीराजः - (*उच्चैः परिहसन्*) धन्य बटो, धन्या च ते प्रत्युत्पन्ना

मतिः ।

महाकापालिकः – (*अपरिगणयन्*) आः, एष ते दर्पः । भवत्वधुनैव त्वं व्यापादयामि । (*द्वित्रिपदमग्रे सरति । प्रेक्षकेभ्य केचिद् भयकुतूहलेन स्वस्थानादुत्तिष्ठन्ति । महाराजस्येङ्गितेन केचिद्रक्षिणः शङ्कररक्षायै समीपमुपसर्पन्ति । शङ्करस्तु शान्तमना उत्थाय महाकापालिकं प्रति प्रस्थितः ।*)

काशीराजः – तिष्ठ तिष्ठ, कुमार । अहं महाकापालिकक्रोधं दूरीकरोमि ।

शङ्करः – मा तावद् भोः । न सत्यं कृपाणरक्षां कांक्षति । नाहं देहो न जन्ममृत्यू कुतो मे । नाहं चित्तं भीतिमोहौ कुतो मे । अपि च बलिष्ठोऽपि निर्बल एव स यो निःशस्त्रं शस्त्रसहायो योद्धुमिच्छति ।

महाकापालिकः – यद्येवं तर्हि विसृष्टः कृपाणः । बलमस्ति चेत्सभायामग्रेसरो भव ।

शङ्करः – (*तथैव शान्तभावेनोपसृत्य जनान्तिकम्*) भो चन्द्रचूड, कुत्र सा वैजयन्ती ।

(*महाकापालिको विस्मयविस्फारितनयनो विमूढ इव द्वित्राणि पदानि पृष्ठे विचलितः ।*)

महाकापालिकः – कथं कथमिव । कस्त्वं मम पूर्ववृत्तान्ताभिज्ञः ।

शङ्करः – अहं तु सर्वज्ञो भगवान् शङ्करः ।

महाकापालिकः – किं प्रमाणम् ।

शङ्करः – इयं सा वैजयन्ती या पुरा कापालिकैरपहृता तत्रभवतः शिवगुरुणा च मोचिता पुरुषवेषधारिणी पृष्ठे तव परिरक्षां करोति ।

(*महाकापालिको वज्राहत इव तिष्ठति । अन्ये च सर्वे चकितचकिता इव चित्रार्पिता इव लक्ष्यन्ते ।*)

पुरुषवेषधारिणी वैजयन्ती – (*समुपसृत्य*) कोऽयं सर्वज्ञताडम्बरश्छद्मवेषधारी । आः ज्ञातम् । अयं तु सतीपुत्रः कुमारः शङ्करः ।

शङ्करः –

सतीसुतोऽहं च सतीप्रियोऽहं सत्यप्रियो यस्तु स एव चाहम् ।
मायाविनीव्यास्तृतमोहजाले स मुक्तः सदा ब्रह्म हि केवलोऽहम् ।।३६।।

शङ्कर्तुकामः शङ्करः ।

वैजयन्ती - किमिच्छति भवान् ।

शङ्करः - अयि बाले, योगिनीपदारूढा सत्यपि कस्ते व्यामोहः । स्मरात्मनः पूर्ववृत्तान्तम् ।

वैजयन्ती - किं पूर्ववृत्तान्तस्मारितेन । योगिनीसन्यासिनौ पूर्ववृत्तान्ते तु निरपेक्षौ भवितुमर्हतः ।

शङ्करः - तर्हि कथं विश्वसमस्तविद्वेषकारिणी प्रवृत्तिः प्रारब्धा ।

महाकापालिकः - किमनयाऽप्रस्तुतप्रशंसया । यदि योद्धुकामोऽसि सज्जोऽस्मि ।

शङ्करः - भो कापालिक, तव शिष्यः पराजितः ।

महाकापालिकः -स न मे शिष्योऽधुना कापालिकशास्त्रानुसारेण ।

काशीराजः - बाढम् । तस्य पराजयेनात्मनोऽपि पराभवो यदि न स्वीक्रियते तर्हि युयुत्सा त्यक्त्वा प्रस्तूयतां विवादः पुनः प्रतिज्ञया ।

महाकापालिकः - यदादिशति महाराजः । प्रस्तुतोऽहं विवादाय ।

पुरोहितः - विराज्यतामस्मिन्नासने । योगिन्यपि विराजतु मध्यासने । गृह्यतां चैते पुष्पमाले । (*द्वावुपविशतः पुष्पमाले च गृह्णीतः ।*)

शङ्करः - श्रुण्वन्तु महामनसः । एष मे प्रश्नः । किमुद्दिश्य नर-मेध एष प्रयुज्यते को हेतुः किञ्च फलम् ।

महाकापालिकः - ननु धर्मलाभ एव ।

शङ्करः - किं लक्षणो धर्म इति ।

महाकापालिकः - चोदनालक्षणो धर्म इति प्रसिद्धम् ।

शङ्करः - को हेतुश्चोदनायाः ।

महाकापालिकः - सर्वहिते रतिः ।

शङ्करः - जीवहानौ कस्य हितं भवेत् ।

महाकापालिकः - यज्ञानां राजा नरमेधः । तेन तु राज्ञः प्रजानां लोकानां च समस्तानां परमं कल्याणं भवतीति कापालिक-शास्त्रादेशः ।

शङ्करः - यस्तु मार्यते -

महाकापालिकः - स तु सर्वोत्तमां फलं प्राप्नोति तत्क्षणं स्वर्गलाभादिति ।

शङ्करः - यद्येवं तर्हि कथं न जुहोषि तव शिष्यान्प्रथममेव ।

महाकापालिकः - (*सरभसम्*) कथं कथमिव ।

शङ्करः - तिष्ठत्वत्रैवैष वादः । आचार्यधर्मं व्याचक्ष्व ।

महाकापालिकः - (*समोक्षभावं स्वगतम्*) दिष्ट्या रक्षितोऽस्मि । (*प्रकटम्*) आचार्यधर्मस्तु सर्वत्र प्रकट एव धर्मोपदेशः।

शङ्करः - धर्मोपदेशेन का सिद्धिः स्यात्कस्य च ।

महाकापालिकः - यः कोऽपि धर्मोपदेशं गृह्णाति स महासुखमाप्नोति ।

शङ्करः - अपि सर्व उपदेशं गृह्णाति ।

महाकापालिकः - केचिन्मोहावृता अज्ञानाः केचिच्च (*शङ्करं निर्दिश्य*) ज्ञानलवप्रमत्ता न गृह्णन्ति ।

शङ्करः - आचार्यः कस्य हितं साधयति ।

महाकापालिकः - यो धर्मदिक्षां स्वीकृत्य शिष्यत्वमाप्नोति ।

शङ्करः - अपि सर्वशिष्याः समानाधिकाराः ।

महाकापालिकः - न । तेषां तु विविधक्रमाः ।

शङ्करः - यथा ।

महाकापालिकः - अयं क्रकचः मे प्रियतरः पट्टशिष्यः ।

शङ्करः - (*सव्यङ्ग्यम्*) सर्वस्य क्षणिकत्वे पुनरपि जातः भवतु । कस्ते प्रियतमः ।

महाकापालिकः - महायोगिनी मणिभद्रा ।

शङ्करः - कस्य हितं प्रथमं साधयितव्यमाचार्येण ।

महाकापालिकः - यो मे प्रियतरो भवेत् ।

पुरोहितः - (*सोद्वेगम्*) न पश्यामि कोऽपि सम्बन्धः प्रस्तुतविषयेनास्याः प्रश्नोत्तरमालिकायाः ।

शङ्करः - साम्प्रतमेव दर्शयामि सम्बन्धम् । भो काशीराज, अयं महासिद्धः स्वमुखेन नार्हत्याचार्यपदवीम् ।

महाकापालिकः - कथं कथमिव ।

शङ्करः - यतः स आचार्यधर्ममप्रमादेन नाचरति ।

महाकापालिकः - किं प्रमाणम् ।

शङ्करः - आत्मनः शिष्याणां परमश्रेयसे तस्य परमोपेक्षाभाव एव प्रमाणम् ।

महाकापालिकः - की श उपेक्षाभावः ।

शङ्करः - यत्प्रियतरं क्रकचं प्रियतरां महायोगिनीं च यज्ञे न जुहोति ।

महाकापालिकः - सिद्धत्वमार्गप्रस्थितयोस्तयोरन्यतमोऽधिकारः ।

शङ्करः - को मूर्खः सुकरं लघुतरं मार्गं विहाय दुष्करं दीर्घतरं च मार्गमपेक्षते । दीर्घकृच्छ्रमर्गोपदेष्टॄणामाचार्यत्वप्रमादः स्वयंसिद्ध एव ।

महाकापालिकः - तत्तु मम विचारविषयो न तव ।

शङ्करः - न तव केवलम् । महाराजस्यापि । यदि महाश्रममुनि-र्धर्मात्प्रमाद्यते तर्हि राज्याश्रममुनेर्धर्मो भवति यद्धर्मचक्रं सुमार्गे प्रवर्तयेत् ।

काशीराजः - एतत्तु विमर्शयितव्यम् ।

महाकापालिकः - अस्मिन्विषयेऽपि न काचिदापत्तिरस्ति मे ।

शङ्करः - कथमिव ।

महाकापालिकः - सर्वक्षणिकत्वात् । आहुतिसमये यज्ञबलिरेव मे प्रियतमः । यदि त्वमपि स्याः -

शङ्करः - (*सस्मितम्*) नाहं तथोपकरिष्ये । परं सर्वक्षणिकत्वेऽपरापत्तिः स्यान्महत्तरा ।

महाकापालिकः - की शी ।

शङ्करः - सर्वस्य क्षणिकत्वे नरमेधस्याप्यसम्भवः ।

महाकापालिकः - केन कारणेन ।

शङ्करः - नरपतेरादेशाभावात् ।

महाकापालिकः - कथमादेशाभावः । अत्रैव वर्तत आज्ञापत्रिका । नरपतिरपि संमुख एव तिष्ठति ।

शङ्करः - कुत्र स नरपतिधुना येनाज्ञा कारिता । कुत्र च स कापालिको यस्त्वादिष्टः । इयमाज्ञापत्रिकाऽपि पूर्वाभास एव यतो मूलपत्रिका लेखनकाल एव नष्टा । अतस्तवैव मतेन साम्प्रतं न वर्तते स राजा वा स कापालिको वा स आज्ञालेखः । विना राजाज्ञां च यः कोऽपि नरसंहारं करिष्यति स लौकिकन्यायेन तु वध्यो भवेत् ।

महाकापालिकः - मैवम् । क्षणिकवादेऽपि पूर्वक्षण उत्तरक्षणस्य हेतुः सम्भवति । उत्तरक्षणोऽपि पूर्वक्षणस्य फलम् ।

शङ्करः - तस्यापि निरोधः । असत एव हेतोः फलोत्पत्तिर्न सम्भवति । निर्हेतुकायां चोत्पत्तावप्रतिबन्धात्सर्वं सर्वत्रोपपद्यते ।

महाकापालिकः - उपपद्यताम् ।

शङ्करः - यद्येवं तर्हि षोडशवर्षीयकुमारवधाय सङ्कल्पे सत्यपि कापालिक-वधोऽपि न निषिध्यते ।

(*श्रोतृगणो हर्षनादं करोति ।*)

काशीराजः - (*विहस्य*) अलं मल्ले मल्लाय । स त्वां हन्तुमैच्छत् । प्रत्यर्पितो न्यासस्त्वयाऽधुना । (*सर्व उच्चैर्हसन्ति ।*)

महाकापालिकः - उत्तरक्षणोत्पत्तिपर्यन्तस्त्ववतिष्ठते पूर्वक्षणः ।

शङ्करः - यद्येवं तर्हि यौगपद्यं हेतुफलयोः स्यात् । तस्मादपि निरर्थको मेधः ।

महाकापालिकः - तिष्ठ तिष्ठ, कुतर्कपटो बटो । लोके प्रसिद्धं फलं प्रत्यक्षप्रमाणेन ।

शङ्करः - किं तत्फलम् ।

महाकापालिकः - नरमांसभक्षणेन शक्तिसञ्चयः प्रत्यक्ष एव । तथैव शक्ति-वर्धनमपि ।

शङ्करः - तत्राऽपि द्विमुखी तर्काभासिता । अतिव्याप्तिरन्यकारण-सम्भवरूपा च ।

महाकापालिकः - विस्तरेण विशदीक्रियताम् ।

शङ्करः - केषांचिच्छक्तिवर्धनेऽन्येषां तु संहारः । तस्मादतिव्याप्तिः । 'घृतं वै आयुः' 'घृतं वै अमृतमि'ति लोकप्रसिद्धमायुर्वेदवचन-मन्यकारणसम्भवनिदर्शकम् ।

महाकापालिकः - एषः कोऽपि मायावी बुद्धिभेदजनयिता । तर्कोऽप्रतिष्ठः । तदर्थं न धर्मपरम्परा त्याज्या ।

शङ्करः - क्षणिकवादे धर्मपरम्पराया अप्यसम्भावना ।

(*महाकापालिक आश्चर्यविह्वलः ससाध्वसमासनादुत्तिष्ठति ।*)

काशिराजः - भो महाकापालिक, दीयतां प्रतिवचनम् ।

महाकापालिकः- किं प्रतिवचनेन । तद्धन्यो धर्मविध्वंसकोऽयं

दुष्टबटुः ।

शङ्करः - (*प्रहसन्*) अधर्मविध्वंसको धन्य कथं दुष्टो भवेत् । भो दुर्मते, त्यजति वाग्देवताऽपि क्रोधकवलितं जनम् ।

काशीराजः - अये कापालिकगणाः, अपि शक्तः कोऽपि युष्मत्तः प्रतिवक्तुमेतस्य कुमारस्य । (*सर्वे दिङ्मूढा हतप्राणा इवा-नुत्तरांस्तिष्ठन्ति ।*) अनुत्तरश्चेद् भवन्तस्तर्हि मया निर्णयो घोषितव्यः ।

पुरोहितः - किमिव ।

काशीराजः - यदयं वयसा बटुः परं बुद्धिप्रभावाद् गुरोर्गरीयान्महात्मा शङ्करो वादे विजितः कापालिकास्तु पराजिताः ।

(*श्रोतृगणः सहर्षोन्मादं जयघोषं करोति 'धन्य बटो, धन्यकापालिक-मदप्रभञ्जक, धन्यस्त्वं धन्या ते जनन्यपी'ति । क्रकचस्तु दन्तान् किचकिचायन् क्रोधं नाटयति । ततः प्रविशत्यानन्दविह्वलो मुनिर्बादरायणः ।*)

बादरायणः - कुत्र तिष्ठति स लोकोत्तरप्रतिभासम्पन्नः कुमारसंन्यासी ।

शङ्करः - मुनिवर, उपस्थितोऽहमत्र ।

बादरायणः - दिष्ट्या वर्धसे । श्रुता मया क्रकचपराभववार्ता । कापालिक-क्रोधप्रवेशश्च । चिन्तितोऽस्मि ।

शङ्करः - न कोऽपि चिन्ताप्रसङ्गः । पराजितः सोऽपि तत्राधोमुखस्तिष्ठति भवदाशिषा ।

बादरायणः - कोऽयं सुधासञ्चयो मे कर्णपथमभिवर्षति । अप्येतद्वितथं सम्भवति ।

काशीराजः - सत्यमेतद् ।

बादरायणः - (*हर्षगद्गदम्*) कथमसम्भाव्यसम्भावना । स्वप्नमिव पश्यामि । भो राजन्, सत्यं चेत्कापालिकपराभवस्तर्हि बटुरयमाचार्यपदवीमर्हति ।

काशीराजः - मयाऽप्येतावच्चिन्तितम् । अनन्तरमेवोद्घोषयामि । श्रोतुमर्हन्ति सभासदः ।

उदघोहाकः - शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

काशीराजः - दक्षाध्वरनाशकः शङ्कर इव नरमोधविध्वंसकोऽयं

द्वितीयः शङ्करोऽद्य मयाऽऽचार्यपदे नियुज्यते । भो महात्मन्, इमं कपित्थं क्षौमयुगलं स्वीकर्तुमर्हसि । (*वसने ददाति ।*)

शङ्करः – (*स्वीकृत्य*) ओम्, स्वीकरोमि । (*पुनरपि जयघोषः । प्रशमिते जयघोषे*) किञ्चिद्विस्मृतं महाराजस्य ।

काशीराजः – त्वयैव स्मारितव्यम् ।

क्रकचः – (*स्वगतम्*) कुक्कुरोऽपि कदाचिद्राजा संभवति ।

शङ्करः – मुच्यन्तां ते युवानो ये यज्ञार्थं वद्धाः स्युः ।

काशीराजः – सुष्ठु स्मारितम् । भोः सैनिकाः, मुच्यन्तां सर्वे नरमेध–बन्दिनः । अत्रैव चानीयन्ताम् ।

शङ्करः – अपरमपि ।

काशिराजः – किमिति ।

शङ्करः – गृह्यतां स महाकापालकः सशिष्यगणो योगिनीद्वितीयः ।

काशीराजः – को लाभः ।

शङ्करः – अशस्त्रपाणयस्ते मम शिष्यत्वं स्वीकुर्युर्वा मृत्युमुखं पश्येयुर्वा ।

काशीराजः – मर्षय । नायं शुभप्रसङ्गः कस्यचिद्दुःखाय कल्पेत ।

शङ्करः – मिथ्यावादिनः प्रति का करुणा । अज्ञानस्य त्वामूलोत्खननं युक्तं भवति ।

क्रकचः – (*स्वगतम्*) अचिरेणैव त्वयैव करुणा याचितव्या ।

बादरायणः – क्षमया शोभते विद्वान् ।

शङ्करः – अपि च नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽहं ब्रह्म कथमेतैरनित्याशुद्धा–बुद्धबद्धैर्मिथ्यापुरुषैः संदधीये ।

बादरायणः – तथापि –

महाकापालिकयोगिन्यौ – (*उपसृत्य शङ्करम्*) आवां शिष्यौ सतीशिवगुरु–कुलदीपकस्य ते पादयो पतावः । (*उभौ शङ्करस्य पादयोः पततः । अनन्तरं प्रतिमुक्ता बन्दिजनाः प्रविशन्ति ।*)

क्रकचः – (*स्वगतम्*) प्राप्तावसरेण मयाऽतः पलायितव्यमचिरेण वैरग्रहणाय । (*इति निभृतं पलायति ।*)

सर्वे बन्दिजनाः – भगवान् शङ्करो विजयतेतराम् ।

परिषद्गणाः – भगवान् शङ्करो विजयतेतराम् ।

काशीराजः – विसृज्यते वादसभा । प्रतिषिध्यते च नरबलिः ।

महायज्ञस्तु तथावद्याज्यतामग्निश्च धान्याज्यैस्तृप्यतु ।

सर्वे - जयतु काशीराजः । जयतु विश्वेश्वरः । जयत्वाचार्य शङ्करः ।

(*यवनिकापतनम् ।*)

।। इति चतुर्थाङ्के चतुर्थः प्रवेशः चतुर्थोऽङ्कश्च ।।

।। पञ्चमाङ्के प्रथमः प्रवेशः ।।

शङ्करः - (*स्वगतम्*) अयमहं माहिष्मत्याः परिसरमनुप्राप्तः । अहो निमित्तज्ञप्रथितानि सर्वाणि मङ्गलानि मे स्वागतं कुर्वन्तीव । अयमुदेति जातवेदा नभोमण्डनः । सन्मुखमेव विश्वमाभाति च रोचनम् । इयमपि सवत्सा धेनुर्मार्गिं प्रतीक्षते । इमाश्च सौभाग्यवत्यः कुलस्त्रियो जलपूर्णकलशान् शिरसि कृत्वेतोऽभिमुखा मङ्गलानि गायन्त्य आगच्छति । (*विहस्य*) विचित्रोऽयं कोऽपि स्थानप्रभावो मामप्येवं निमित्तदर्शने प्रेरयति । कुत्र वर्तेत पुनस्तन्महानुभावस्य मण्डनमिश्रस्य हर्म्यम् । आदिष्टोऽस्मि तत्पुण्यस्मरणभट्टकुमारिलेन चिताप्रवेशपूर्वं पूर्वमीमांसावादाय तत्साच्छिष्यं मण्डनमिश्रमे-वोपगन्तुम् । सुष्ठु च बोधितं तेन महात्माना यन्निष्परिणामको विवादो मिथ्यैव कालदुर्व्ययकारी । विवादारम्भ एवोभयपक्षाभ्यां प्रतिज्ञातव्यं 'पराजितश्चेदहं तर्हि देहं पातयामि वा परपक्षशिष्यत्वं गृह्णामि ।' अपि तु महानगर्यामस्यां क आदिशेन्मां मण्डन-सदनमार्गम् । दिष्ट्या इत एवागच्छन्ति ताः कुलस्त्रियः । ता एव पृच्छामि । (*प्रकाशम्*) भो मातरः, प्रसीदन्तु ।तत्रभवतो मण्डनमिश्रगेहपथं प्रदिशन्तु ।

एका - अरि, केनाप्यागन्तुकेन भवितव्यम् । प्रतिवचनं देहि ।

द्वितीया - अस्य दर्शनं परिधानं च कथयत्येतावत् ।

तृतीया - भो अगृहीतगृहस्थाश्रमदीक्ष, अकालकृतपरिव्राजकवेष, मध्यरजन्युदितसूर्य इव कुमार, श्रुणु ।

जगद् ध्रुवं स्याज्जगदध्रुवं स्यात् किराङ्गना यत्र गिरं गिरन्ति ।
द्वारस्थनीडान्तरसन्निरुद्धा जानीहि तन्मण्डनपण्डितौकः ।।३७।।
स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं किराङ्गना यत्र गिरं गिरन्ति ।
द्वारस्थनीडान्तरसन्निरुद्धा जानीहि तन्मण्डनपण्डितौकः ।।३८।।

प्रथमा - अयि शीघ्रकवयित्रि, न युक्तो दूरप्रवासिनैष परिहासः । सरलप्रश्नस्योत्तरमपि सरलं युज्यते ।

द्वितीया - भवतु । भो नारायण, इतो दक्षिणाभिमुखं परिवृत्याकुटिलमार्गेण गच्छन्प्राप्यसि निजकांक्षितं पदम् ।

शङ्करः - उपकृतोऽस्मि भवत्या । नैष मार्गादेशः केवलमपित्वा-शीर्वचनमपि । (*यथानिर्दिष्टमार्गेण प्रस्थितः ।*)

प्रथमा - (*गच्छन्तं तं विलोक्य*) क एष तारकारिकुमार इवापरशिवगुरु-सूनुरपरः कुमारो विवाहोचितवयस्येव संसारत्यागी। अपि स प्रतिदिनप्रसरयशाः कापालिकाध्वरनाशक आचार्यः शङ्करः स्यात् ।

तृतीया - जानास्येव यदहमचिरेणैव वाराणस्याः समागताः । प्रस्थानकाले श्रुतमासीन्मया यच्छंकरो माहिष्मतीमुद्दिश्य प्रस्थितो भट्टकुमारिलादेशेन ।

द्वितीया - न चिरमावृता तिष्ठति भा रवेः । अचिराच्छ्रोष्यामः ।

तृतीया - चिरायिताऽस्मि सखीसंवादेन । जानीथ यूयं यदद्य मण्डनपण्डितगेहे पितृश्राद्धमहोत्सवः । परिजनैः सह पुष्पाणि विचिन्तुं गन्तव्यं मया नगरोपान्तोद्यानपरम्परासु । तल्लघु लघु चलितुमर्हथ ।

(*निष्क्रान्ता वाममर्गेण वामाः ।*)

।। इति पञ्चमाङ्के प्रथमः प्रवेशः ।।

।। पञ्चमाङ्के द्वितीयः प्रवेशः ।।

शङ्करः –(*पिहितगोपुरद्वारसमीपे*) अयमहं भोः । उद्घाट्यतां द्वाराणि । (*नेपथ्ये 'कोऽयं प्रभातसमय एवातिथिविशेषः । भो शिष्य, द्वारमुद्घाटय । पश्चाद्द्वारमपाव्रियते ।' उद्घाटिते द्वारि कोऽपि महाप्रभावो भव्यललाटो दीप्ति–मन्मुखः पुरुषः प्रविशति ।*)

पुरुषः – (*शङ्करं ष्ट्वा*) धिक् धिक् । कुतः पितृश्राद्धदिने प्रभातसमयेऽमङ्गलं परिव्राजकदर्शनम् । तदप्याश्रमक्रमलोपितस्य कुमारसंन्यासिनः । (*शङ्करं प्रति सतिरस्कारम्*) कुतो मुण्डि ...

शङ्करः – आगलान्मुण्डी ।

पुरुषः – पन्थास्ते पृच्छ्यते मया ।

शङ्करः – किमाह पन्थास्त्वाम् ।

पुरुषः – (*सक्रोधम्*) तव माता मुण्डका इति ।

शङ्करः – (*विहस्य*) त्वमपृच्छः पन्थानं स त्वामेव प्रतिवदेत् ।

पुरुषः – (*अत्यन्तक्रोधेन तारस्वरेण*) कोऽत्र सेवकानाम् । निष्क्राम्यतामयं कुमार्गसुमनोरजोधूसरो मधुप इव मत्तभ्रमरः ।

शङ्करः – किमन्यत्सहायो भूत्वा स्वपराजयं प्रारम्भ एवोद्घोषयसि । अथवा, अलं विवादेन । तर्कयामि भवानेवाचार्यमण्डन इति ।

पुरुषः – ओम् । किं चिकित्ससि ।

शङ्करः – प्रेषितोऽहं भवत्सकाशं पुण्यस्मरणेन भट्टकुमारिलेन ।

मण्डनः– कथं कथं पुण्यस्मरणेनेति । अपि कुशली स महानुभावो वा न वा ।

शङ्करः – दिवं गतः सः । सौगतमुनिना वादे पराजितः स विषादापन्नश्चितामारूढवान् ।

मण्डनः– कष्टं कष्टम् । क्वासौ सौगतमुनिः । मया जेतव्यो वृद्धात्मतृप्तये ।

शङ्करः – न क्लेशः कर्तव्यः । तच्छ्राद्धं समाप्य हि खल्वहमत्र भवत्सकाशमासादितः ।

मण्डनः– अप्यत्रभवान्स नवोदितसूर्य इव प्रसारितसर्वाशाकलरव आकृष्टपण्डितजनगणमना नवदीक्षित आचार्यशङ्करः ।

शङ्करः – चितासनाधिरूढस्य भवद्गुरुभट्टकुमारिलस्यादेशेन धर्मविवादायेह

पर्यटामि । तज्ज्ञात्वा महाभागो यथायोग्यं करोतु ।

(*नेपथ्ये 'आर्यपुत्र, क्व गतो भवान् । चिरायते खलु दिनचर्या ।*)

मण्डनः- देवि, अत्रागच्छ । प्रभात एवोपस्थितः कोऽप्यतिथिविशेषः।

(*ततः प्रविशति तेजस्विमुखमण्डला महाप्रभावा देवी सरस्वती ।*)

सरस्वती - किमाह भवानतिथिविशेष इति । (*शङ्करं ष्ट्वा*) स्वागतमतिथये । किं तेऽभिज्ञानम् ।

मण्डनः- एष स मदनस्येव सौगतमदखण्डनो दक्षस्येव महाकापालिकस्य यज्ञविध्वंसको भस्माङ्गरागः शङ्करः ।

शङ्करः - (*सस्मितम्*) न तु पुनस्त्वं सहसाकृतवचः क्रियया दक्षो न चाहमकृतसतीमङ्गलेन शङ्करः ।

सरस्वती - अचिरेणावचितानि प्रभातकुसुमानीवाग्रप्रसरसुमनोगन्धकीर्तिरिव भवान् । क्षन्तव्य आर्यपुत्रो यदज्ञानात्परिहासः कृतो भवेत् । पुष्पफलान्वितमर्घ्यमानयामि ।

शङ्करः - मा त्वं परिखेदं कृथाः । नाहं पुष्पफलाकांक्षी । समुत्सु-कोऽस्मि ज्ञानामृतायैव । खण्डनखण्डखाद्यलोलुपोऽयं जनः ।

सरस्वती - (*विहस्य*) मण्डनेनैव खण्डनौचित्यं सिध्यति । पुनश्च दूरप्रवासपरिखिन्नो भवान् । स्नानादिना परिश्रममपवाहितुमर्हसि।

शङ्करः - गङ्गाप्रवाह इव ज्ञानप्रवाहेऽवगहनमेव मे परिखेदमपहरति ।

मण्डनः- भवतु । पितृश्राद्धोत्सवरूपेणापराह्णे विवादारम्भव्यवस्था क्रियते । कः पुनर्मध्यस्थो भवेत् । अतिथिरसि । तत्त्वमेव वरयस्व ।

शङ्करः - श्रुणुमो भवद्गेहे साक्षात्सरस्वती निवसति । सैव विराजतु धर्मासने ।

सरस्वती - अपि मम निर्णयः स्वीकृतो भवेत् ।

शङ्करः - सरस्वतीधर्मबुद्धिषु विश्वस्तोऽस्मि ।

सरस्वती - (*सस्मितम्*) तथैव धर्मबुद्ध्याऽऽदिश्यते मया यदभ्यन्तरं प्रविश्य साम्प्रतमस्माकमातिथ्यं स्वीकुरु ।

शङ्करः - (*विहस्य*) यथाऽऽज्ञापयति भवती ।

(*सर्वे गोपुरद्वारं प्रविश्य निष्क्रामन्ति ।*)

।। इति पञ्चमाङ्के द्वितीयः प्रवेशः पञ्चमोऽङ्कश्च ।।

।। षष्ठाङ्के प्रथमः प्रवेशः ।।

[*मण्डनमिश्रप्रासादाट्टालिका । प्रभान्ती रजनी । अस्ताचलचूडावलम्बी च गृहस्थिप्रणयिजनाह्लादको रजनीमण्डनः । यवनिकापसरणे सरस्वत्येकाकिनी विचारमग्ना धीरगत्या ष्टिपथमागच्छति । क्षणं स्थित्वा* -]

सरस्वती - अपूर्वप्रतिभावानयं कोऽपि कुमारः । किं तस्य वयः का च मेधा । किं ज्ञानं का च तर्कशक्तिः । किं पुन-स्तत्प्रत्युत्पन्न-मतित्वम् । तं प्रति गलति मातृवच्च मे हृदयम् । अपि ममे शः सूनुः स्यात् । आहुस्ते स मातरं वञ्चयित्वा सप्तमे वर्ष एव संन्यासदीक्षां गृहीतवान् । तस्मिंस्तु विषये संन्यास-शब्दोऽपिनिरर्थको यतस्तदेव संन्यस्यते यत्पुरा गृहीतं स्यात् । यद्यहं तस्य माताऽभविष्यं तर्हि नै-केनापि कारणेनाहं तस्य संन्यासानुमतिं प्रादास्याम् । पुत्र-वत्सलतयैव मम हृदये क्रोधोऽप्यभिजायते । विस्मयक्रोध-करुणास्नेहादिपरस्परविरुद्धभावै-र्विह्वलीभूताहं यथा तथा न पुरा कदापि । वादारम्भे कल्पितमासीद्यद् द्वित्रीणि दिनान्येव जेष्यत्यार्यपुत्रो निःशङ्कमिमं प्रच्छन्नबौद्धम् । अद्य तु पञ्चाशत्तमो दिवसः । तथाऽपि न लक्ष्यते मनःखेदो वेदवारिधिविहारकुशलग्राहस्य तस्य । प्रत्यहं नवनवोन्मेषो नूतनश्च तस्य तर्कः । प्रतिपक्षे त्वार्यपुत्रमेवोत्तरोत्तरं श्रान्ततरमनसमुपलक्षये । अधिकाधिकचिन्ता-मग्नः शून्य इवान्यमनस्क इव विगलितविश्वास इव श्यते दिने दिने । बटुस्त्वविरतवर्षधाराभिरिव वाग्धाराभिस्तृषितचातक-भावान् श्रोतृगणानाकण्ठं परितोषयति । प्रत्यहं श्रोतृसमुदायो वर्धते शुक्लपक्षे ज्योत्स्नौघ इव । प्राकृतास्तस्य दर्शनाय विद्वांसश्च श्रवणाय धावं धावं समायान्ति । यथा यथा तु तपति तस्य यशोरविस्तथा तथा समावर्तन्तऽ ष्टघनीभवन्तो घनाः । यं यं स पराभवति स तस्य कठोरव्यवहारेण शत्रुत्वं पुष्णाति । आत्मज्ञानप्रकाशान्धः स दीप इव न पश्यति क्षीयमाणं स्वस्नेहं वाऽऽक्रामन्तं तमःपुञ्जम् । निदाघाचण्डातप इवाप्रतिहतमपि दहति तज्ज्ञानम् । प्रभाविताऽपि

प्रार्थयन्ते तदस्तकालम् । अप्रतिरथस्य तस्य विचारधारासु वर्तते कश्चिद् दुर्दिनान्धकार इव महादोषः । यदि स्वीक्रियते तस्य वादस्तर्हि प्रणश्येयुर्यज्ञधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः । न समाजधर्माः केचिदपि रक्ष्यन्ते । शङ्करोऽयं प्रच्छन्नबौद्ध इति कथ्यते । परं बौद्धानामपि स्तो ध्यानमन्त्रौ 'धर्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामी'ति । अयं तु न केवलं कञ्चिच्छरणं गन्तुमिच्छति परं गायति विशेषेण -

न माता पिता वा देवा न लोका
न वेदा न यज्ञा न तीर्थं ब्रुवन्ति ।
सुषुप्तौ निरस्तातिशून्यात्मकत्वा-
त्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ।।३९।।

इति । भगवता सुगतेनापि निरीश्वरवादिने शो नानाचारः प्रबोधितः । तथापि बौद्धानां शून्यवादेन यो मिथ्याचारः प्रसारित आसीत्तस्मा-ज्जगदुद्धरणे प्राणानजुहोदार्यकुमारिलः प्रयतते च दिवानिशमार्यपुत्रः प्रभाकरादयश्च । तेषां पुरुषार्थो महदंशेन सफलोऽपि श्यते । साम्प्रतं समागतोऽयं वाक्पटु-र्दुर्दिनान्धकार इव सद्दर्शनावरोधकोऽविनीतबाल इव संरब्धुकामः । तेन च सर्वं नङ्क्ष्यति हस्तगतम् । शिवः केवलोऽहम् । की शी प्रगल्भता । विशाले विश्वविस्तारे कैवल्येऽपि न व्यथते तस्य मनः । दर्पण श्यमानछायापुरुषेभ्यः कथं भेतव्यमित्यत्यन्तः प्रगल्भः सः । । शिवः केवलोऽहमिति चेत्सत्यं कः कथं केन धर्मेण प्रवर्तेत । माता पुत्रं पुत्रो वृद्धपितरं पत्नी पतिं पतिश्च सवत्सां भार्यामपि त्यजेत् । ततश्च न केवलं धर्मग्लानिरपितु स-मूलमुत्खातनं स्याद्धर्मवृक्षस्य । धर्मे नष्टे को धारयिष्यति प्रजाः । अधार्यमाणासु प्रजासु वसुन्धरा स्वयमेव विवरं प्रविशेत् । हे देवाः, सप्ताङ्गुलिकोऽयं बटुः पूर्वसूरिभिर्निर्दिष्टं धर्ममपि परिहसतीव । अहं केवलः शिवः । तेन मे सौभाग्यमण्डनो मण्डनोऽपि छायापुरुषः । यद्येतदपि सम्भाव्यं तर्हि समीप एव प्रलयः । (*शिरो घूर्णयित्वा*) न हि, न हि । नैतच्छक्यम् । नैतत्सत्यम् । तदा

सत्यार्थबोधः कथं स्यात् । शान्तमनसा विचारयितव्यम् । शङ्करस्य तर्कस्तु स्पष्ट एव । अस्मद्युष्मत्प्रत्ययगोचरयोस्तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोरुभौ न सत्यं संभवतः । अस्मत्प्रत्ययस्तु प्रत्यक्षः स्वतः सिद्धः क्षणे क्षणे । तस्माद्युष्मत्प्रत्ययोऽयं सकलः प्रपञ्चो मिथ्या । (*मूकभावेन किञ्चित्कालं पर्यटति । सहसा हर्षनिर्भरस्वरेण*) आः प्राप्तम् । प्राप्तमेव । तथाऽपि सुविचारयितव्यम् । कथं पुनस्तस्य सत्यं लब्धप्रणष्टम् । विमार्गे च गमितः स इत्थम् । आः तदपि कल्पनाज्ञेयम् । बाल्य एव बुद्धिविभवेनान्येभ्यो बालेभ्यो वैशिष्ट्यादात्मानमसहायमद्वितीयं चानुभावयन्नात्मरतौ भावितः स्यात् । पश्चाच्च संन्यासिधर्ममाचरञ्ज्ञानैकरसः संसारमुक्तो बद्धमिवापापो पापभाजमिव मन्यमानो दूरतस्तं परिजहान एकोऽवशिष्टो भत्वाऽऽत्ममात्रं शिवत्वे चोद्गायते । पूर्णसत्यस्यात्यन्तसमीपेऽपि तस्य वादे तत्सा श्येनैव महदनिष्टबीजं वर्तते । अप्रतिरथस्य तस्य विजयरथोऽत्रैव रोद्धव्यः । माहिष्मती चेत्तं न प्रत्यवायति तर्हि न कस्यचिदन्यस्य तत्सामर्थ्यम् । आर्यपुत्रो यदि न शक्नुयात्तर्हि मयैव तस्य विरोधः कर्तव्यः । अधुना तु मध्यस्थपदेन निरुद्धवागस्मि । अपि तु सिद्धं भवति चेत्क्लेशकल्प्यं मण्डनशिरोधरमाला च म्लायते ।

(*नेपथ्ये सुमहान्कलकलः । क्षणात्प्रविश्य च* –)

चेटी – (*ससंभ्रमम्*) देवि, दारुणो वज्रपातः । रसातलं च गता पृथिवी ।

सरस्वती – (*शान्तभावेन सस्मितम्*) त्वं पुनः कथमत्रोपस्थिता ।

चेटी – भीतभीताऽहं न जानाम्यात्मानम् ।

सरस्वती – किं ते भयकारणम् । निभृतं वद यत्किमपि स्यात् ।

चेटी – अद्य प्रभात एव स्वीकृतवान्पराजयमार्यमण्डनः । आहूता च त्वमविलम्बेन वादमण्डपम् ।

सरस्वती – संमोहिते, न भेतव्यम् । सज्जाऽस्मि तत्र गन्तुम् । अग्रेसर । तत्रैव – (*इत्यर्धोक्ते पुनर्महत्तरः कोलाहलः । तच्छ्रुत्वा स्तब्धा* –) हञ्जे, ज्ञायतां किं निमित्तोऽयं कलरवः ।

चेटी - यदाज्ञापयत्यार्या । (*निष्क्रान्ता सरस्वती विचारमग्नैव स्थिता ।*)

चेटी - (*क्षणेन प्रतिनिवृत्य सभयम् -*) आर्ये, आलोडितः समुद्र इव क्षुब्धो महत्तरो जनगण आक्रोशति भवत्या दर्शनाय । आः किं करोमि ।

सरस्वती - प्रवेशय सर्वान्निराबाधेन ।

(*चेटी निष्क्रान्ता । पुनश्च समुदायेन सह प्रविश्य -*)

चेटी - इत इतो भवन्तः ।

पञ्चषाः पुरुषाः - आर्ये, आज्ञाप्यतां मुण्डकवधाय ।

सरस्वती - (*हस्तौ प्रसार्य*) मर्षयन्तु भवन्तः ।

एकतमः - किं वा मर्षयितेन ।

द्वितीयः - मम कन्या नष्टा म्लेच्छेन । निवारितायां सत्यां प्रतिवक्ति 'का मे जननी को मे तात' इति ।

तृतीयः - मम दशमो ग्रहः सपुत्रकलत्रं विहाय गृहान्निर्गतः । रुदन्तीमनुसरन्तं तां भणति च 'का मे कान्ता को मे पुत्रः संसारोऽयं मायारूपः ।'

सरस्वती - (*स्वगतम्*) अहो, किमप्यद्वितीयत्वं विचारसामर्थ्यमस्य ।

चतुर्थः - शास्तुमर्हसि त्वं प्रच्छन्नबौद्धमिममचिरेणैव । नो चेद्धन्तव्यः सोऽस्माभिः ।

चेटी - किं कर्तुं शक्ष्यत्यत्रभवती यदा मण्डनोऽपि तस्या अपकृतस्तेन पाषण्डिना ।

पञ्चषा जनाः - (*कर्णौ पिधाय सकृदेव -*) शान्तं पाप्म् । कोऽयं वज्रपातः ।

अन्यतमः - न त्वया कथितं न च मया श्रुतम् ।

सरस्वती - न भेतव्यम् । अधुनैव तत्र गमिष्यामि तत्प्रमत्तहस्तिकलभं शासितुम् । न पुनर्युमाभिर्मर्यादा लोपनीया । विचारः प्रतिविचारेण ह छिद्यते न शस्त्रेण ।

सर्वे - जयतु जयतु सरस्वती । जयतु माहिष्मतीपुरदेवता ।

(*सचेटीसरस्वतीपुरोगमा निष्क्रान्ताः सर्वे ।*)

।। इति षष्ठाङ्के प्रथमः प्रवेशः ।।

।। षष्ठाङ्के द्वितीयः प्रवेशः ।।

[*माहिष्मत्यां वादसभामण्डपः । उच्चासने शङ्करः । अधो भूमावुपविष्टो मण्डनो म्लानवदनः । काष्ठभूत इव तूष्णींभूतः सकलश्रोतृसमुदायः । नेपथ्ये 'अपसर्पन्तु महानुभावाः । गमनमार्गं ददतु तस्यै सभां गन्तुकामायै सरस्वत्यै ।' ततः प्रविशति सचेटी सरस्वती जनसमुदायेनानुगम्यमाना ।*]

सरस्वती – इयमहमुपस्थिता ।

शङ्करः – (*सादरम्*) इदं मध्यासनमलंक्रियताम् ।

सरस्वती – एषोपविशामि । (*उपविश्य*) किं कांक्षति भवान् ।

शङ्करः – धर्मवादे निर्णयो दातव्यः ।

सरस्वती – स तु कुसुममालयैव दत्तः ।

शङ्करः – ततः शिष्यत्वं वा देहविलयो वा कर्तव्यः पराजितेन ।

सरस्वती – मर्षयतु महाभागः । नैवमकारणमारणो भवितुमर्हसि ।

शङ्करः – भट्टनिर्दिष्टोऽयं पन्थाः । अपि च शिवद्वेषिदक्षप्रसारित-मार्गोपदेशकं प्रति कैव करुणा शङ्करस्य ।

सरस्वती – बिम्बप्रतिबिम्बभावमयमिदं जगदकरुणं प्रति निर्दयं भवति ।

शङ्करः – आर्ये, किं भयं दर्शयसि । न मे किञ्चिद् भयं मिथ्याजगतः । अपि च जगद्गुरुपदकामस्य न करुणा न भयम् ।

सरस्वती – गुरवस्तु तरव इव नम्रत्वेनोन्नमन्तः शोभन्ते ।

शङ्करः – सत्यकामस्तु न कदापि मिथ्याचारेण संदध्यात् ।

सरस्वती – की शीयमतिज्ञानप्रेरिता मोहनिद्रा । जागरितुमर्हसि ।

शङ्करः – नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा सदैव जागरुकः ।

सरस्वती – पुनरपि विचारय । प्रमत्तश्च पक्षे जयोऽपि पराजयहेतुरेव।

शङ्करः – बिभेषि चेद्वैधव्येन ...

सरस्वती – अनधिकारचेष्टिन्, न भयप्रेरिता परं करुणाप्रणोदिता पृच्छामि किमेष ते निश्चयः ।

(*सभाजनाः सोत्कठमेतयोर्वादं श्रुण्वन्ति ।*)

शङ्करः – बाढम् । एष मे निश्चयः ।

सरस्वती – दिग्विजयवेला ते मा भूत्परमपराभवानेत्री ।

भूयोऽपि विचारय ।

शङ्करः - न किमपि भूयो विचारणीयमधुना । एष एव मे निश्चयः ।

सरस्वती - जानासि किं विशालो जनसमुदायो निरोधं वा मरणं वा कांक्षते तव । केचिच्च त्वां हन्तुमुद्यताः ।

शङ्करः - न भीतो मरणादस्मि । न जायते म्रियते वा कदाचिद् ब्रह्म-स्वरूपोऽयमात्मा ।

सरस्वती - भो संन्यस्तविनय बटो, तृतीयवारं पृच्छामि किमेष ते निश्चयः ।

शङ्करः - सहस्रकृत्वः पृच्छ्यमानेऽप्यपरिवर्तनीयो म एष एव निश्चयः ।

सरस्वती - तदनुभवतु स्वदर्पपरिपाकम् ।

(*सभाजनानां केचत्ताररस्वरेण 'हन्यतां हन्यतामि'त्याक्रोशन्ति । सरस्वत्यूर्ध्वबाहुना वारयति ।*)

शङ्करः - (*तान्प्रत्युपेक्षाभावेन पृष्ठं कृत्वा*) प्रथमं तु मण्डनो विकल्पं वरयतु ।

सरस्वती - अकालोऽयं प्रस्तावः ।

शङ्करः - कथं कथमिव ।

(*मण्डनोऽपि सविस्मयमुन्मुखो भवति । सभाजनाः साश्चर्यौत्सुक्येन गुञ्जन्ति ।*)

सरस्वती - अद्यापि न पूर्णजित आचार्यमण्डनो भवता ।

शङ्करः - कस्मादेवमुदीर्यतेऽधुना ।

सरस्वती - तस्यार्धाङ्गनाऽहं शास्त्रार्थमुपस्थिता । मामपि जेतुमर्हसि ।

शङ्करः - पराजिते स्वामिनि तस्यार्धाङ्गनाऽपि पराजितैव ।

सरस्वती - अपराजितायामर्धाङ्गनायामपराजित एव स्वामी ।

शङ्करः - बाढम् । प्रस्तुतोऽहं वादार्थम् । कः पुर्नमध्यस्थः ।

सरस्वती - द्वावप्यावां सत्यप्रतिज्ञौ । हृदयं त्वेव घोषयतु जयाजयकथा ।

शङ्करः - तथास्तु । प्रस्तूयतां वादः ।

सरस्वती - यदि सर्वसम्मतो निर्णयः कांक्ष्यते तर्हि प्रस्थानप्रतिज्ञायामैक-मत्यमिष्यते ।

शङ्करः - युज्यते । का सा प्रतिज्ञा ।

सरस्वती - तदपि विमर्शयितव्यम् । किं मन्यते भवानंतःसाक्ष्यं बलवत्तरं वाऽऽप्तवचनम् ।

शङ्करः - अन्तःसाक्ष्यम् ।

सरस्वती - पुनश्च प्रत्यक्षानुमानबलाबले को निर्णयः ।

शङ्करः - नानुमानं प्रत्यक्षसर्वस्वविरोधि प्रामाण्यम् ।

सरस्वती - ममापीष्टे उभे प्रतिज्ञे । तस्मादेतयोरैकमत्यं भवति प्रस्थानबिन्दुः। भवन्मण्डनयोर्वादो मया पूर्वमेवाक्षरशो लेखितो निष्णातैर्लेखकारकैः । तल्लेखात्किञ्चिदिदानीं पठिष्ये । सावधानं श्रुणु । (*पठति।*) युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयिणोस्तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोरितरेतरभावानुपपत्तौ तद्धर्माणामपि सुतरामितरेतरभावानुपपत्तिरित्यतोऽस्मत्प्रत्ययगोचरे विषयिणि चिदात्मके युष्मत्प्रत्ययगोचरस्य विषयस्य तद्धर्माणां चाध्यासः ...' इत्यादिः ।

शङ्करः - अभिनन्दनीयो लिपिकारो यथावल्लेखाय ।

सरस्वती - (*सव्यङ्ग्यम्*) अनुगृहीतः स मिथ्यापुरुषः । अथ मम शङ्कामपनेतुमर्हथ ।

शङ्करः - किं रूपा ।

सरस्वती - युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरौ विषयविषयिणौ न विरुद्धौ तमःप्रकाशवत्।

शङ्करः - किं प्रमाणम् ।

सरस्वती - प्रथमं तु तमःप्रकाशयोः परस्पराध्यासो न संभवति ।

शङ्करः - भवतु । उपेक्षणीयो ष्टान्तः ।

सरस्वती - अपरं च विषयविषयिविषये स्वीकृतायामध्याससम्भावनायां तयोः साधर्म्यमपि स्वीकृतं भवति । यतः साधर्म्येणैवाध्याससम्भावना । रज्जौ सर्पस्याध्यासः शक्यते न घृतघटस्य, रज्जुसर्पयोर्लम्बात्वात् । शुक्तौ रजतस्याध्यासः सम्भवति न काककुर्मयोः, शुक्तिरजतयोः समानभासत्वात् । यत्र च साधर्म्यं तत्र नैकान्तिको विरोधः शक्यः ।

शङ्करः - यत्र यन्नास्ति तत्र तस्यारोप एवाध्यासः । तत्तु मिथ्या रज्जौ सर्पदंशवत् ।

सरस्वती - मैवम् । त्वमेवावदः पूर्वं तथाप्यन्योन्यस्मिन्नन्योन्यात्मकता मन्योन्य धर्माश्चाध्यास्येतरेतराविवेकेनात्मन्यविविक्तयोर्धर्मधर्मिणोर्मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्याहमिदमित्यादिकम् । तत्तु समानधर्माधारेण प्रसरति ।

शङ्करः - आवभ्यां पूर्वमेव सम्मतमस्ति यत्प्रत्यक्षविरोधि यदनुमानं

तन्न प्रमाणम् । युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोः परस्पर-विरुद्धस्वभावस्तु प्रत्यक्ष एव ।

सरस्वती - तदपि शङ्कनीयम् । विरुद्ध ष्टान्तसम्भवात् ।

शङ्करः - व्याचक्ष्व ।

सरस्वती - अत्यन्त प्रेमसम्बन्धे यूयं वयं वयं यूयमिति सार्वत्रिकानुभवः प्रत्यक्षो न मिथ्या फलसम्भवाच्च सन्तानप्राप्तिरूपः ।

शङ्करः - सकलो मोहजनितव्यापारः ।

सरस्वती - कामसूत्राणि व्याचष्टाम् ।

शङ्करः - (*ससंभ्रममासनादुत्थाय*) कथं कथमिव । भवती जानात्येव बालब्रह्मचारी न्वहम् ।

सरस्वती - ततः किम् ।

शङ्करः - नैतत्प्रष्टव्यम् । उत्तरदाने ममेतो व्याघ्र इतस्तटी ।

सरस्वती - तत्र किं क्रियते मया । विस्मृतमासीत्त्वयायत्त्वं न केवलं ब्रह्मचारी, अपि तु बालश्च । तत्स्मारयितुमिच्छामि ।

(*श्रोतृगण आनन्देन कालकलायते ।*)

शङ्करः - ततः किं ततः किं ततः किम् ।

सरस्वती - उत्तरो दातव्यः । नानौचित्यं मे प्रश्नस्य प्रेमसम्बन्धे युष्मदस्मद्विरोध-शमनस्यान्तःसाक्ष्यात् ।

शङ्करः - परमहं कथं ...

सरस्वती - एकदेशज्ञानिन अचार्यपदवी न युक्ता ।

शङ्करः - तर्हि म अवधिं दातुमर्हति ।

सरस्वती - दक्षवृद्धप्रबोधितमार्गस्य विरोधिनः प्रति कैव करुणा ।

श्रोतृणामेकतमः - (*उत्थाय*) सुष्ठु गृहीतः ।

द्वितीयः - न मोक्तव्यः ।

तृतीयः - या शी भावना यस्य ... (*इति सभाजनाः क्रोशन्ति ।*)

मण्डनः - शान्तिः शान्तिः ।

शङ्करः - नाहं करुणां याचे । सत्यसंसिद्धये खलु मे याञ्चा ।

सरस्वती - स्यात्कदाचित् । विना सर्वज्ञत्वं जगद्गुरुपदवी न कांक्ष्यते ।

शङ्करः - मातर्, गलितदर्पोऽहम् । ज्ञानस्येममपूर्णतां दूरीकर्तुं षण्मासा-वधिं कामये ।

सरस्वती – माताऽपि वञ्चिता त्वयेति श्रुणमः । तथैव मामपि ...

शङ्करः – क्षमस्व देवि । कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति ।

सरस्वती – नाहं कुमाता भवितुमुत्सहे । त्वया चाहं 'मातर्' इति शब्देनाहूता । तथापि ...

शङ्करः – भवति, भिक्षां देहि ।

सरस्वती – भवतु । अद्यावधि न कदा मया भिक्षुको रिक्तहस्तो निवर्तितः । तस्माद् दत्ता तव भिक्षा ।

शङ्करः – ॐ स्वस्ति । कामशास्त्रोपगन्तुं संन्यासिलिङ्गशुद्धिरक्षायै च परकायाप्रवेशं करोमि ।

मण्डनः– (*ससंभ्रमम्*) अयं तु कृच्छ्रप्रयोगः । अलं दुःसाहसेन ।

शङ्करः – परमतत्त्वप्राप्तये न किमपि कृच्छ्रं मम । आत्मजन्म-हेतोर्निष्फलत्वे किं मे जीवितेन । कार्यं साधयामि देहं वा पातयामि ।

सरस्वतीमण्डनौ – साधु कुमार साधु । परं नावामाजन्मब्रह्मचारिहत्यापाप-भाजौ भवितुमुत्सहावहे ।

शङ्करः – षण्मासाभ्यन्तरमत्रैव प्रतिनिवर्तिष्ये । तदवधिं च स्थगिता भवतु वादसभा । एतन्ममोत्तरीये दण्डकमण्डलू च न्यासरूपेणात्रैव परित्यजामि । तान्येव मे लिङ्गं कल्पयित्वा सावधानेन रक्षितव्यानि । अवधिसमाप्तावनागते मयि तैरेव मम भूमिदाहः कर्तव्यः ।

सरस्वती – माऽहं स्नेहवत्या वृद्धजनन्या एकस्यैवाद्वितीयस्य पुत्रस्य परलोकगमनहेतुर्भवेयम् । (*शङ्करस्तु तदवधि 'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय' इत्यादि पठन् प्रचलितः । मण्डनसरस्वत्यौ परस्परं पश्यतः । समग्रसभा च स्तब्धा चित्रार्पितैव तिष्ठति ।*)

सरस्वती – (गम्भीरस्वरेण) विसर्जिता वादसभा । शान्तभावेन गम्यताम् । (*निष्क्रान्ताः सभाजना अ ष्टपूर्वेण मूकीभूताः।*)

अपूर्वात्म-श्रद्धावानयं कोऽपि भगवदवतार एव सम्भवति ।
न विद्यते सामर्थ्यमन्येषामित्थं सत्यार्थं प्राणैः क्रीडितुम् ।

(*स्नेहादरव्याकुलितमनसोभौ नमस्कुरुतः शङ्करनिक्षेपः । जवनिकाक्षेपः ।*)

।। इति षष्ठाङ्के द्वितीयः प्रवेशः षष्ठोऽङ्कश्च ।।

।। सप्तमोऽङ्कः ।।

(*नेपथ्ये गीतध्वनिः ।*)

योगिन् मा गा मा गा मा गाः ।
निवर्तस्व याचे त्वा मा गा मा गाः ।।३८।।
ज्येष्ठः गतो स्वेदजलैः रुदन्त्या
आषाढमासो जलसिक्तस्वक्ष्याः ।
नभश्च भाद्रो विरहाश्रुधारै-
र्गतौ प्लवन्तीं धरणीं गता सा ।।३९।।
वर्षाऽश्विनश्च व्रतमाचरन्त्या
दीपावली म्लानशिखाऽपि याता ।
एतः कुमारो न कुमार नैतो
निवर्तस्व योगीश्वर मा गा मा गाः ।।४०।।

(*ततः पटापकर्षणे सरस्वतीमण्डनौ शङ्करन्यासं पालयन्तौ श्येते ।*)

मण्डनः- अद्य कार्त्तिकी शुक्लत्रयोदशी । दशभिरेव दिनैर्दत्तावधिः समाप्तो भवेत् । कथमद्यापि न निवृत्तः स सत्यकामः ।

सरस्वती - माऽहं स्नेहमयिवृद्धजनन्या एकस्यैवाद्वितीयस्य पुत्रस्य परलोक-गमनहेतुर्भवेयम् ।

मण्डनः- न भेतव्यम् । शङ्करोऽयं महायोगीश्वरगोविन्दाचार्यशिष्यः । (*नेपथ्याभिमुखमवलोक्य* -) पश्य पश्य कोऽयमायाति ।

(*ततः प्रविशति राजकुमारवेषेण शङ्करः । प्रविश्य* -)

शङ्करः - एषोऽहं समायातोऽवध्यभ्यन्तरं वादसभाम् ।

सरस्वती - इत्थं राजचिह्नैर्विभूषितः कोऽयमतिथिविशेषः ।

मण्डनः- जयतु जयत्वाचार्यः ।

सरस्वती - अये, शङ्करोऽयम् । (*स्नेहविह्वलतया*) वत्स, अधिकं शोभते परिवेष एष ते संन्यासवाससः ।

शङ्करः - मुक्तः को मूर्खः पुनरपि बन्धनाय कामायते । मम तु प्रियतरो मे परिव्राजकवेषः सर्वबन्धननाशकः । शय्या भूमितलं कपित्थवसनं ज्ञानामृतं भोजनम् । एष तु दहति मां विषमविषज्वालेव । (*वेषपरिवर्तनं करोति ।*)

सरस्वती - (*सगद्गदम्*) भगवत्पाद - (*इत्यर्धोक्ते पादयोः पतति ।*)

शङ्करः - मातर्, मैवम् । (*उत्थाप्य*) न पुनः शारदावतारात्रभवती मां 'भगवत्पाद' इत्याख्याय पुनरपि दर्पसर्पविवरे प्रवेशयतु । भवत्याः प्रसादेनैव प्राप्तोऽस्मि सम्यज्ज्ञानोदयम् ।

सरस्वती - बोधयितुमर्हत्यस्मान् विजितकालो यतीन्द्रः ।

शङ्करः - सद्विद्यावतारां त्वां बोधयितुमसमर्थः ।

मण्डनः - न युक्तं नूतनज्ञानप्रकाशगोपनम्। किं प्राप्तं परकायाप्रवेशेन ।

चेटी - (*प्रविश्य*) देवि, ज्ञातशङ्करपुनरागमन उत्सुको जनसमुदायः प्रवेशादेशमपेक्षते ।

मण्डनः - प्रवेशयितव्यः सर्वः । सर्वेऽपि सदुपदेशं श्रुण्वन्तु ।

चेटी - बैद्धकापालिकमीमांसकादयस्ते क्रोधाध्माता इव लक्ष्यन्ते ।

शङ्करः - तेन हि प्रवेशयितव्या निर्बन्धेन विशेषतः ।

चेटी - (*मण्डनं प्रति*) यथाऽऽज्ञापयत्याचार्यः । (*निष्क्रान्ता*)

(*क्षणेन क्रोधक्षोभव्याकुलितो जलधिजलौध इव जनौघः प्रवेशति 'हन्यतां हन्यतां सर्वधर्मकर्मविनाशकमि'ति तारस्वेण क्रोशन् ।*)

शङ्करः - (*अग्र उपसृत्य सहास्यम्*) भो मित्राणि,

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ।।४१।।

तस्मात्त्यजतां वृथाप्रयत्नः । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कदाचन ।

सरस्वती - (*शङ्करमवरुध्य जनान्प्रति*) मा मर्यादामत्येत ।

(*वेलाप्राप्तसमुद्रतरङ्गमालावन्मञ्चप्रत्यक्षं प्राप्य प्रतिष्टम्भगतिरिव शान्तो भवति सकलसमुदायः ।*)

मण्डनः - उपविशन्तु सभाजना यथास्थानम् । न कश्चिद्भयक्रोधप्रसङ्गः । (*सर्वे शनैः शनैर्यथास्थानमुपविशन्ति । अनन्तरम् -*) धन्येयं माहिष्मत्यद्य यत्सकुशलं प्रतिनिवृत्तो भगवाञ्छंकर आत्मनः कृच्छ्रयात्रायाः । अस्मदनुनयेन स परकायाप्रवेशस्य स्वानुभवान् वर्णयिष्यति । तच्छान्तभावेन - (*इत्यर्धोक्ते खड्गहस्तः क्रकचः कुतश्चिदागत्य 'आः पाप' इति वदन् शङ्करमाक्रामति । मण्डनस्तु पृष्ठतस्तस्य पाणिं गृहीत्वा खड्गमपकर्षति । तं च भूमौ पातयति । शङ्करस्तु*

शान्तभावेन हस्तौ प्रसार्य मण्डनहस्तात्खड्ग-मपहरति । जनानां सुमहान्कलरवः । केचिन्निष्क्रमितुमारभन्ते । द्वित्राः शङ्करं घर्षितुं समागत्य शङ्करहस्ते खड्गं ष्ट्वा स्तम्भिताः सरस्वत्या वारिताः ।)

चेटी - अहो बलीयसी भीताऽहम् । कथं न बिभेत्ययं बटुः । (*पलायिता*)

शङ्करः - शास्त्रार्थसभायामनौचित्यं शस्त्रस्य । अस्थाने च बलप्रयोगः सत्यान्वेषणे । (*सरस्वत्यै खड्गं समर्पयति । पश्चान्मण्डनसमीपं गत्वा* -) मुच्यतामस्य हस्तः । अत्रासनं चोपवेश्यताम् । (*सस्मितम्*) निःशस्त्रः स क्षणेन निरुपद्रवो जातस्तमोगुणप्रधानः । (*भयव्यथितं क्रकचमुत्थाप्यासनमुपवेशयति । क्रकचोऽधोमुखो भूमिखननं करोति । क्षणं स्थित्वा* -) भो क्रकच, किमनेन वैरभावेन । नष्टः पुराणशङ्करः । अयं त्वस्य नूतनावतारः । प्रस्तुतवादे साक्षी भवितुमर्हसि । पश्चाच्चेद्धन्तव्योऽहं मारितव्यः । (*मण्डनं प्रति* -) अस्माकं संवादः पूर्ववदेव प्रवर्तताम् । (*सर्वे स्वस्थीभूयस्वस्थानं प्रतिनिवर्तन्ते ।*)

सरस्वती - वयमुत्सुका ज्ञातुमाचार्यपादेभ्यः किं प्राप्तं परकायाप्रवेशेन।

शङ्करः -

परकायाप्रवेशेन ज्ञातमेतन्मया शुभे ।
सर्वं ब्रह्ममयं ज्ञात्वा विरोधः कस्य न्विष्यते ।।४२।।
नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा प्रसादात्ते सरस्वति ।
तस्मात्त्वं मे गुरूभूता दिश्यतां सर्वशं ध्रुवम् ।।४३।।

सरस्वती - मैवम् ।

एकमेवाद्वितीयत्वं त्वयैव प्रतिपादितम् ।
तेनाहं बोधिता तस्मादाचर्यात्वं तवेष्यते ।।४४।।

सभाजनेभ्य एकः - (*सक्रोधमासनादुत्थाय*) कथं परकायाप्रवेशकारी परस्त्रीगमनकारी आचार्यत्वेन कल्पते ।

शङ्करः - मर्षयतु भवान् । परकायाप्रवेशो न परकीयाप्रवेशार्थेन ग्राह्यः। परानुभवं परमात्मभावेनाद्वैतबुद्ध्या निजीकृत्यारुन्धती-न्यायेनातः परं च मनसा परिकल्प्य प्राप्तं सम्यज्ज्ञानं मया

ब्रह्मचर्यमाचरताऽक्षुण्णभावेन। परं तिष्ठतु तद्। प्रथमं वाद एव समापयितव्यः ।

मण्डनः– वयमपि ज्ञानवार्तामिव श्रोतुं समुत्सुकाः ।

शङ्करः – अहं बह्मास्मीति न पूर्णं सत्यम् । सर्वं खल्विदं ब्रह्मेत्येव पूर्णसत्यम् । अष्टमहावाक्यानां समन्वयात् ।

मण्डनः– तत्किं भवतः प्रतिज्ञा परिवर्तनीया ।

शङ्करः – न । युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोरित्यादिके युष्मदस्मत्प्रत्ययरूपो भेद एव मिथ्या, तथैव विषयविषयिरूपो भेदश्च । मिथ्यात्वं भेदस्य तदाश्रितस्याध्यासस्य च । युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोर्यत्समानत्वं तदेव ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तलक्षणम् । 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' इति वाक्ये जीवस्य ब्रह्मत्वं प्रतिपादयितव्यं न त्वपरस्य ब्रह्मत्वम् । ब्रह्मैवाहं, ब्रह्म त्वं, सर्वं च खल्विदं ब्रह्म । ब्रह्मैवैकं नान्यं किञ्चदिहास्ति ।

मण्डनः– तत्कोऽर्थः शिवः केवलोऽहमिति वाक्यस्य ।

शङ्करः – तत्त्वहंप्रत्ययस्य लक्षणं वर्णयति, न शिवस्य । (*अन्यमनस्को भूत्वा*)

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः।।४५।।

तथैव

नानोपाधिवशादेव जातिवर्णादिभेदवत् ।
आत्मन्यारोपितास्तोये रसवर्णादिभेदवत् ।।४६।।

(*पुनर्लब्धस्मृतिरिव*) यः स्वप्नजागरसुषुप्तमवैति नित्यं तद्ब्रह्म अहम् ।

मण्डनः– तदा लोकव्यवहारे कथं वर्तितव्यम् ।

शङ्करः – भेदापगम आत्मवत्सर्वभूतेषु वर्तितव्यमिति स्वतः सिद्धम् ।

मण्डनः– विस्तरेण वक्तुमर्हथ संसारसुगम ष्टान्तैः ।

शङ्करः – (*विहस्य*) नाहमनधिकारचेष्टां करोमि । एषा खलु ते कुललक्ष्मीः सरस्वती भारत्या अवतारः सैव व्याख्यास्यति ।

सरस्वती – आत्मवत्सर्वभूतेषु ष्टव्यमिति विधिविचारः । तथा ह्यात्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेदिति निषेधसिद्धान्तः ।

मण्डनः- तदा तु वादो नाम निषिध्यते परमतखण्डनत्वात् ।

सरस्वती - मैवम् । वादविवादयोस्तु विवेकः कर्तव्यः । वादः सत्यान्वेषी समन्वयकारकः । विवादस्तु दुराग्रहयुक्तोऽहमहमिकायुक्तो भेदकारकः । स तु परिहर्तव्यः ।

शङ्करः - यथा ।

सरस्वती - (*सस्मितम्*) तवैव । चिन्तय कथमेते धर्मसङ्घास्ते विरोधिनः सञ्जाताः ।

शङ्करः - क्षाम्यत्वत्रभवती । यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः। त्वमपि कथमेवं वदसि । न कृतो मया कदाचिदपि विवादः । सत्यसंस्थापनार्थायैव मे सकला प्रवृत्तिर्लोकहितकारका । तस्मादेव पूर्वप्रतिज्ञो हि मे वादारम्भः 'परजितेन शिष्यत्वग्रहणं देहविलयो वे'ति । यदसत्यं न तच्छिवम् । यदशिवं न तत्सुन्दरम् । तस्मात्सत्यसंस्थापनमेव धर्मः । सुतरां स्थापिते सत्ये शिवसन्दरसिद्धिस्तु सुलभेति कृत्वा शून्यक्षणिकवादौ खण्डितौ मया । मीमांसकाश्च पराजिताः । इत्थं मम निर्दयत्वमपि लोकसंग्रह ष्ट्यैव ।

सरस्वती - सर्वे प्रभुत्वलालसा एवमेव वदन्ति । परमेतन्निर्दयत्वमेव सुमहान्दोषः । विरोधभावेन कृतो सुधारोऽपि दुष्टो भवति । श्रुतिवचनेनैतावदेवात्यन्तस्पष्टोक्त्योद्भासित 'सर्वे च तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनः सर्वान्वेद' इति । तस्मान्न विरोधिनमपि पराद्यात् । बहिष्कारविनाशनादयः प्रवृत्तयोऽज्ञानमूलिन्यः । यत्र विरोधो धर्मो भवति तत्रापि स्नेहभावेनात्मभावेन सम-न्वय ष्ट्या विरोधः कर्तव्यः ।

शङ्करः - न तद्विस्मरिष्यामः ।

सरस्वती - अपि च

न विनाऽद्वैतभावेन परचित्तं प्रविश्यते ।
तज्ज्ञानं ज्ञायते चैव मातुः प्रत्यक्षमेव च ।।४७।।
अहं-मम-त्वमित्येवं गर्भाधानप्रसूतिषु ।
तन्ममाद्वैतमित्येवं प्रीतियोगे तु गम्यते ।।४८।।

तस्मान्मया कामसूत्रचर्चा ह्युत्पादिता । तस्माच्च सर्वदा

सर्वत्रैव कल्याणकृतः प्रथमो ध्यानमन्त्रो भवतु सर्वे तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनः सर्वान्वेद ।

शङ्करः - यद्देव्याज्ञापयति ।

सरस्वती - (*शङ्करं प्रति*) सफलमनोरथाऽहं भवताऽनुज्ञाता ब्रह्मधाम व्रजेयम् ।

शङ्करः - कथं कथमिव । धर्मसंस्थापनार्थाय साहाय्यं ते ह्यपेक्षते।

सरस्वती - लोकोत्तरस्य तव खल्वनपेक्ष्यमन्यसाहाय्यत्वम् ।

मण्डनः- मण्डनस्यास्य तु का गतिः ।

सरस्वती - शङ्करोऽयं वेदान्तधर्मं स्थापयिष्यति । तस्य सहायो भवितुमर्हसि शिष्यरूपेण । मण्डनो मे वेदान्तमण्डनो भविष्यति ।

शङ्करः - न बहुजनसाहाय्याभावेन धर्मः सनातनत्वेन कल्पते परशुरामपुरुषार्थवत् । भो मण्डनमिश्राः, उपस्थितान्सर्वधर्मसङ्घाचार्यन्प्राहूय सादरमत्र व्यासपीठमुपवेश्यताम् । किमपि वक्तुकामोऽस्मि सकलकल्याणकामानुद्दिश्य ।

(*मण्डन उत्थायोपस्थितसमुदायमध्यात्पञ्चषाञ्जनान्दसादरमानीय महार्हासनेषूपवेशयति। 'इतः पद्मचार्य, अत्र त्रोटक, अत्र च हस्तामलक, सौगतमुने स्वागतम् । सूरीश्वर, इदमासनमलंक्रियताम् । क्रकच, त्वमपि' इति। सर्वानुपवेश्य स्वयमपि यथोचितमासनमुपविशति । पश्चादाशीर्मुद्रां कृत्वा क्षणं नेत्रे निमील्य शङ्करेण ध्यानमस्थीयत । अनन्तरं नेत्र उन्मील्य-*)

शङ्करः - श्रुणोतु क्रकचः, श्रुणुतां सरस्वतीमण्डनौ, श्रुण्वन्तु चान्ये धर्माचार्या लोकसङ्घाश्च । वेदान्तविजयाय कृतनिखिलभारतप्रवासे सर्वसम्प्रदायाचार्यैश्च कृतविवादेषु ष्टं मया यदस्मिन्युगे भारतवर्षे सर्वे सम्प्रदाया विभूषिता महापण्डितरत्नैः । सर्वे च तेऽस्मत्सौभाग्येन प्रयतन्ते यथाशक्तिं धर्माभ्युदयार्थम् । यतयो ये यतन्ते धर्माभ्युदयार्थं तान्सर्वान्प्रणमामि । प्रणम्य च पृच्छामि किं फलमस्माकं सकलखण्डनमण्डनप्रवृत्तीनाम्। न विरमितः कलिकालविलासः । न संवर्धते लोकशक्तिः । न सिध्यति योगक्षेमं प्रजानाम् । कथमेतत् । खण्डनखण्डखाद्य-

रता वयं केवलं प्रजासु बुद्धिभेदं जनयामः । लोकसमुदायः सद्धर्मपन्थमज्ञात्वा कुटिलमार्गानाश्रयते । धारणाद्धर्ममिति वृद्धवचनमना त्य वादे रताः परस्परं कलहायमाना जयाजयायैव चिन्तिताः । नाहमपि तत्राऽपवादरूपोऽभवम् । सत्यं प्रतिजानामि बाल्यात्प्रभृति सत्यमेव ब्रह्मेति मन्त्रो जपितः । तदर्थं स्वीकृतं मया संन्यस्तं तृणवदुज्झिता विषयसुखरसा उपेक्षिता वृद्धजननीविलापा अङ्गीकृताश्च दीर्घप्रवासाः । सत्य-संस्थापनार्थायैव तिरस्कृता बौद्धाः पराजिता मीमांसका नि-पातिताः कापालिका नाशिताश्च दुष्टयज्ञाः। स्ववादनादप्रमत्तोऽहं तर्कमात्रेण न किमपि प्रतिष्ठाप्यत इति पश्यन्नप्यपश्यन्निव निष्परिणामवादेष्वात्मानं निक्षिप्तवान् । परमसौभाग्येन तु सत्यार्थमात्मानमग्नौ जुह्वानं भट्टकुमारिलमपश्यं तेनैव च प्रबोधतः सत्यान्वेषणाय माहिष्मती-मनुप्रपन्नः। एषा च महानगरी मां नूतनपाठं पाठितवती । तीर्थरूपेयं सरस्वती मामशासद्यत्स्वमतासक्तिर्विनाशाय कल्पते सत्यस्यात्मनश्च । 'सर्वे तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनः सर्वान्वेद' । सत्यं ब्रह्मापि तं परादाद्यतः सर्वमेवेदं ब्रह्म । तस्मात्समन्वयबुद्ध्या सर्वमतपरीक्षणं समभावेन कर्तव्यमिति प्रथमसोपानं सम्यज्ज्ञानशिवालयस्य । अद्वैतवादी कथमन्यवादी सम्भवति । युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरत्वं सर्वं नानृतं वैकान्ततो मिथ्या वा । अनृतेऽपि सत्यांशो विद्यते येन सत्यानृतयोर्मिथुनं संभवति । भगवता बादरायणेनापि चतुर्थसूत्रे परोक्षरूपेण समन्वयपद्धतिरेव प्रशस्ता । तस्मिन्विषये पुरा मयापि प्रमत्तम् । माहिष्मतीमण्डनरूपयाऽत्रभवत्या जागरिता प्रमादात् ।

सभाजनाः - जयतु माहिष्मती जयतु च पूजार्हा सरस्वती ।

शङ्करः - (*हस्तमुद्यम्य*) शान्तिः शान्तिः । (*विरमिते जयनादे सरस्वतीं नमस्कृत्य*) परस्परं विवदमानानाचार्यन् ष्ट्वा सुखासङ्गलुब्धाजनाः स्वधर्मान्परित्यज्य काममेकं शरणं गत्वा स्वेच्छाचारमाचरन्ति । फलतः समाजे पुनरपि मत्स्यन्यायः प्रवृत्तः । सर्वथा परिरक्षणीया निर्बलशिशुवृद्धनारीरूपाश्चतुर्वर्गा

एवोपेक्षिता भवन्ति प्रजासु । कष्टात्कष्टतरं गतास्ते कृच्छ्रेण जीवन्ति वर्षन्ति च मूकभावेनाभिशापान् । धर्मबुद्धिरेव धारयति प्रजाः, न केवलं क्षत्रबलम् । अद्य तु विच्छिन्नमानसोऽयं समाजः पतनाभिमुखस्तिष्ठति । यदि झटिति कश्चिदुपायो न चिन्त्यते तर्हि पश्यामि महद्भयं राष्ट्रदेहस्याचिरेणैव । परिवर्तनशीलेऽस्मिन् संसारे समन्वय एव मार्गः सद्दर्शनार्थम्। पुनरपि स एव मार्गः प्रवर्तनीयः । लोकसंरक्षा कर्तव्या । योगक्षेमं च वहनीयम् । न तत्सम्भवति कामक्रोधत्यागेन विना । यत-स्तावेव कारणं लोकक्षयस्य । कामक्रोधौ च विषयध्यानात्प्रभवतः । न च रागद्वेषरञ्जिता ष्टिः सत्यरूपं पश्यति । तस्मात्संन्यास एव धर्मः । तत्संस्थापनयज्ञे राष्ट्रहितायाह्वयामि सकलान्धर्मसंमर्शिनः । अप्येतत्स्वीक्रियते महाजनैः ।

परिषद्गणः - स्वीकुर्म आचार्यप्रसादाय ।

शङ्करः - बाढम् । तर्हि अद्य प्रभृति शाम्यतु सकलविरोधाः । गलन्तु परस्परद्वेषाः । विरमन्तु विफलविवादसमारम्भाः । एक एव ध्यानमन्त्रोऽस्त्वस्माकं 'सत्यं परं धीमहि'।

सर्वे - (*सोत्साहम्*) सत्यं परं धीमहि ।

शङ्करः - एक एव धर्मघोषो भवतु 'सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखमाप्नुयादि'ति ।

सर्वे - सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखमाप्नुयात् ।।४९।।

शङ्करः - एष धर्मः सनातनः । तस्याभ्युत्थानाय पुरुषार्थः कर्तव्योऽधुना । चतुःसृषु दिक्षु चत्वारो धर्मपीठाः संस्थापनीयाः । यद्येते पद्ममण्डनतोटकहस्तामलका महानुभावाः संमन्यन्तेतेषु मठेषु तानेव चतुरो मान्यपुरुषान्मठाधिपत्ये नियोक्तुं मे मनीषा ।

मण्डनादयः - अनुगृहीताः स्मः ।

शङ्करः - अत्रभवती भारतीं च शृङ्गेरीस्थानक आराध्यदेवतारूपेणा-भिषिञ्चामि ।

सरस्वती - लोकसंग्रहाय स्वीकरोमि । ॐ स्वस्ति ।

शङ्करः -

अथातोऽहं परो वेति भेदबुद्धिर्विनश्यतु ।
सर्वोदये च सर्वस्थो धियः को नः प्रचोदयात् ।।५०।।

सरस्वती - धियो यो न प्रचोदयात्स तु भगवाञ्छङ्करो विजयतेतराम्।

सर्वे - भगवाञ्छङ्करो विजयतेतमाम् ।

सरस्वतीसहिताश्चतुराचार्याः -

बाल्ये न्यस्तसमस्तक्रीडनमतिर्वेदांश्च योऽभ्यस्तवान्
तारुण्ये तरुणीकटाक्षकुरतिं त्यक्त्वा च कन्थां दधौ ।
वेदान्तार्कमरीचिकाशितदिशः स्तोत्रैः स्वरं नादयन्
संन्यासानलज्ञानसूर्यभजनेन्दुत्र्यंबकाण्युद्वहन्
भस्माङ्गेन च स्पर्धते स तु महाञ्छ्रीशङ्करः पातु वः ।।५१।।

।। इति सप्तमोऽङ्कः ।।

।। अद्य विंशत्यधिकद्विसहस्रतमे विक्रमाब्दे वैशाखशुक्लपञ्चम्यां श्रीशङ्करजयन्तिपर्वणि मन्दवासरे समाप्येदं नाटकं समर्पितं जनकजननीचरणकमलेषु तयोः प्रीत्यर्थं च सुहृदान्दार्थं च । तेन श्री भगवाञ्छङ्करः प्रीयतां प्राणिमात्रस्य ।।

।। समाप्तमिदं नाटकं शङ्करविजयम् ।।

।। द्वितीयं नाटकम् ।।

।। पूर्णं सप्तर्षिमण्डलम् ।।

(९९-१३५)

।। पूर्णं सप्तर्षिमण्डलम् ।।

।। प्रथमं दृश्यम् ।।

[*हिमाचलप्रदेशे पूर्वा सन्ध्या । उदञ्चन्मार्तण्डो हिमाच्छादितशिखरेषु स्वर्णरजो विकिरति ।*]

(*नेपथ्ये*)

पूर्वा सन्ध्या तु गायत्री रक्ताङ्गी रक्तवाससा ।
मधुरा खगकण्ठैश्च गायन्ती ब्रह्मणः स्तवम् ।।१।।
गायन्तं त्रायते दिव्या द्रष्टारं दिव्यदर्शनम् ।
ध्यायन्तं सुधिया पायात्तस्य प्रज्ञां प्रचोदयात् ।।२।।

(*श्लोकान्ते 'नारायण नारायण' इति जपध्वनिः । क्षणाच्च गगनतलादवतरति वीणापाणिर्मुनिर्नारदः ।*)

नारदः - अस्ति सर्वथोचितं यन्मर्त्या 'हिमालयो देवतात्मा' इति वदन्ति । दुर्लभा खल्वीदृशी शोभा नन्दनवनेऽपि । तथैव दुर्लभतरास्ते पुण्यात्मानो मुनयो ये लोकहितायैवोग्रं तपस्तप्यन्ते पुराणकालदस्मिन्प्रदेशे ।

(*सहसा नेपथ्ये नूपुरध्वनिः*)

अरे, प्रभातवेलायामेव केयं किन्नर्युन्मुक्तमना नृत्यारम्भं करोति । (*सहजभावेन नूपुरशब्दानुसारिणं वीणारवं वादयन् शिरो घूर्णयन्नेव*) अथवाऽलं तर्केण । नेदं किन्नरीनृत्यम्, विश्वामित्र-तपोभूमिरासन्नैव । तस्य तपोभङ्गाय प्रेषितायाः सर्वस्त्रीचरितविज्ञाया मेनकाया वनशालाऽप्यदूरैव । तस्या एव प्रवृत्तिः स्यादियम् । (*क्षणं स्थित्वा*) किन्नरबालाया नर्तनं प्राकृतं स्वैरगतियुतं च भवति । इदं तु तालबद्धं शास्त्रीयमिव लक्ष्यते । मयापि विश्वामित्रस्याश्रमपदमेव गन्तव्यं भगवत्कार्याय । तदविलम्बं तत्रैव विचरामि ।

(*इति निष्क्रान्तः ।*)

।। इति प्रथमं दृश्यम् ।।

।। द्वितीयं दृश्यम् ।।

[*हिमशिखरपुरस्तात्सन्ध्योपासनमग्नो राजर्षिर्विश्वामित्र उत्तराभिमुखो ध्यानमुद्रायामुपविष्टः । तस्य पुरस्तान्मयङ्कलेखेव मनोरमा मेनका मनोहरनर्तने दत्तैकचित्ता लसति लास्यनृत्ये । उषसि विवस्वतोऽग्रे वारिदलेखेव रजतकिङ्किणीमिव मधुरं गुञ्जति मधुगीतम् ।*]

मेनका - (*नृत्यन्ती*)

कामानलो दहति मां त्यज योगमुद्रा-
मुत्तिष्ठ योगिवर किं तव रूक्षयोगात् ।
कान्तं वपुः कथमिदं विफलीकरोषि
आयुर्हि नो निरवधिर्न च यौवनं ते ।।३।।

(*पृष्ठे नारदोऽर्ध्वं प्रविश्य -*)

नारदः - अहो, अत्र तु पार्वतीप्रणयप्रसङ्गः पुनरपि नाट्यत इव । तदन्तर्धानेनैव पश्यामि । (*इति अन्तर्हितः स्थितः*)

मेनका -

नष्टे मधौ किमिव कोकिलकूजितेन
वर्षासु किं जलव्रतेन च चातकस्य ।
आयुःक्षये नृवर ब्रह्मपदाप्तिना किं
मोहं विहाय कुरु सौख्यमयीं प्रवृत्तिम् ।।४।।

(*नृत्यगीतं परिवर्तयित्वा -*)

मन्दं मन्दं विचरति वायौ कमलिन्यङ्के विलयति भृङ्गे ।
उषसं रमयति सवितरि रक्ते कामः कलयति मे मन्दाङ्गम् ।।५।।
निशान्तकाले तमसि निरस्ते निहारस्नाते पद्मिन्यङ्गे ।
सरति दुकूलं सकञ्चुकवस्त्रं नीवीं शिथिलयत्युग्रप्रवातः।।६।।

(*गीतानुसारेण यथाक्रमं दुकूलसरणं कञ्चुकनिर्ग्रथनं च नाटयन्ती नीवीं स्पृशति ।*)

नारदः - (*आविर्भूय*) मनस्विनि, मा त्वं मर्यादामत्यैषीः । नो चेच्छापभागिनी भविष्यसि ।

(*मेनका नारदं दृष्ट्वा लज्जाभावेन भूमिपतितं दुकूलं परिगृह्य अपयाति ।*)

नारदः - (*खिन्नभावेन शिरो धूनयति । पश्चाद्विश्वामित्रमुपगम्य -*)

राजर्षे, नेत्रे उन्मील्यताम् । निरस्तं तद्दुःस्वप्नम् । अहं तु नारायणचरणस्मरणोपजीवी नारदस्त्वामभिवादये ।

विश्वामित्रः – (*नेत्र उन्मिल्य*) स्वागतं देवर्षये ।

नारदः – सफलमनोरथो भवतु भवान् ।

विश्वामित्रः – न परिहासमपेक्षत आशाभङ्गव्याकुलितहृदयम् ।

नारदः – नाहं परिहसामि । नातिदूरं पश्यामि ते तपसां फलं नारायणप्रसादात् ।

विश्वामित्रः – अभागस्य मे कीदृशो हरिप्रसादो द्विषद्भिर्ब्रह्म–देवादिभिः प्रतिषिद्धब्रह्मर्षिपदस्य ।

नारदः – ब्रह्मर्षिपदकाङ्क्षिणः पररागद्वेषाभ्यां किम् । मनस्वी कार्यार्थी न हि परकृपालम्बानपरः । ब्रह्मत्वं तु स्वपुरुषार्थेन हि सिध्यति ।

विश्वामित्रः – यद्यपि सत्यमेतत्तथाप्यविरलतपोविघ्नैः क्लिश्नाति मे मनः ।

नारदः – क्षुद्रं मनोमालिन्यं त्यज । योगेनाप्यते सिद्धिः मनोनिग्रहश्चैव योगः । साक्षीकृतस्ते निग्रहोऽद्य मया ।

विश्वामित्रः – (*सविस्मयम्*) किमपश्यद् भवान् ।

नारदः – सर्वमेव । ममागमनेनैव पलायिता मेनका । अधिकपरीक्षणे तु देवानामप्यनधिकारः ।

विश्वामित्रः – तत्तु नारदमतम् । (*सासूयम्*) ब्रह्मर्षेर्वसिष्ठस्य मतं भिन्नमेव ।

नारदः – किमिव ।

विश्वामित्रः – ब्रह्मर्षिपदाधिकारः क्षत्रियस्य न विद्यते इति ।

नारदः – किं ते प्रमाणम् ।

विश्वामित्रः – स एव स्वभार्ययाऽरुन्धत्या मेनकां विश्वासयति ।

नारदः – अतिकल्पनमेतत्त इति मन्ये । स्त्रीणां त्वन्यस्त्रियं प्रति द्वेषानुकम्पावुभयौ स्वभावजन्यावेव ।

विश्वामित्रः – (*सकटुस्मितम्*) आवयोः हृदयं त्वेव जानाति प्रीतियोगं परस्परम् ।

नारदः – सुदीर्घतपःखेदस्त्वामीदृशं भावयते ।

विश्वामित्रः - तदा किमर्थं स मां वारंवारं राजर्षिरिति बोधनेनावमानयति ।

नारदः - अस्मात्स्थानाद् ब्रह्मर्षेराश्रममेव गन्तव्यं मया । मन्त्रयिष्ये च ते संदेहं तेन सह ।

विश्वामित्रः - (*साशङ्कम्*) क्षन्तुमर्हति भवान् । विस्मृतं मया प्रष्टुं प्रयोजनं भवतोऽत्रागमनस्य ।

नारदः - कथान्तरेषु मयाऽपि विस्मृतमेतत् । प्रेषितोऽस्मि त्वत्समक्षं स्वयं नारायणेन त्वां संदेष्टुम् ।

विश्वामित्रः - अवहितोऽस्मि । किमादिष्टं तत्रभवतोपेन्द्रेण ।

नारदः - संदिष्टं तेन यन्न ब्रह्मत्वमाप्यते करुणां विना ।

विश्वामित्रः - भृशमनुगृहीतोऽस्मि । अपि स महेन्द्रमपि किञ्चिदुपदिशेत् ।

नारदः - किं नाम ।

विश्वामित्रः - यत्स्वार्थहेतवे न सोऽन्येषां तपोविघ्नं जनयितुमर्हति । पतनादपि पातनं पापं महत्तरमिति तर्कयामि ।

नारदः - राजर्षे, न कदाचिद् ब्रह्मर्षिपदं सहजं प्राप्यते । पुनरपि कथयामि न तत्परकृतकार्येष्ववलम्बते । स्वपुरुषार्थेन हि त्वं तपःसिद्धिमवाप्स्यसि ।

विश्वामित्रः - (*'राजर्षे' इति सम्बोधनजनितं क्रोधं महता यत्नेन संयम्य*) बहु मन्ये देवर्षिवचनम् ।

नारदः - त्वद्धितायाहमपि किमपि वक्तुकामोऽस्मि ।

विश्वामित्रः - उच्यतां निर्बन्धेन ।

नारदः -

एको गुणो गुण इवोन्नतिमातनोति
कूपान्धकारघटवच्च तथैव पश्य ।
छिद्रं च पातयितुमेकमपि क्षमं स्या-
न्नावो निमज्जनविधावलमेकछिद्रम् ।।७।।

विश्वामित्रः - न विस्मरिष्यामि ।

नारदः - (*नभसि दृष्टिपातं कृत्वा*) अहो, द्वितीयप्रहरं प्रवेष्टुकामो भगवा-न्भास्करः। तद्गन्तव्यमधुना । वसिष्ठाश्रमं गत्वाऽरुन्धतीसहितः सोऽभिनन्दनीयः ।

विश्वामित्रः - यदि मत्कृत एव गमनीयमिदं तर्हि न क्लेशः

कर्तव्यः ।

नारदः - राजर्षे, अतिमानेनालम् । अधुनैव मयादिष्टं यथैकमपि छिद्रमलं नौमज्जनायार्णवे । पुनरपि गमनहेतुस्त्वन्यः ।

विश्वामित्रः - अपि ज्ञातुमर्हये ।

नारदः - को बाधः ।

विश्वामित्रः - कदाचिद् गोपनीयं भवेत् । मायाप्रियो हि नारायणः ।

नारदः - स्यात्कदाचित् । परं न किमपि गोपनीयं ब्रह्मर्षिदेवर्ष्योः । राजनीतावेव गोपनीयागोपनीयत्वसंभवः ।

विश्वामित्रः - हुम् ।

नारदः - तत्रभवता वसिष्ठेन नवीनतमं सूर्यसूक्तं रचितम् । तदर्थं तस्मै देवानामभिनन्दनप्रस्तावं निवेदयितुमेव गन्तव्यम् ।

विश्वामित्रः - शिवास्ते पन्थानः सन्तु । अहमपि यथासमयं तमभि-नन्दयिष्यामि ।

(*ऋषिमभिवाद्य नारायणनाम जपन्निष्क्रान्तो नारदः ।*)

विश्वामित्रः - (*नारदगमनमार्गानुसारमवलोकयन्*) किं सूचयति प्रभातवेलायां देवर्षिदर्शनम् । कोऽर्थश्चोपेन्द्रनारदयोर्वचनयोः । वसिष्ठाभिनन्दन-प्रस्तावमिषेण किं नवीनव्यञ्जनं पचन्ति देवा मत्कृते । सर्वथा सतर्केण स्थातव्यम् । (*गहनविचारमग्नः स्थितः ।*)

(*पटाक्षेपः ।*)

।। इति द्वितीयं दृश्यम् ।।

।। तृतीयं दृश्यम् ।।

[*वसिष्ठाश्रमे गुरुकुटिरप्राङ्गणम् । दिवसस्य द्वितीयप्रहरः । त्रिचतुराणि चतुष्पाद-पीठिकासनान्यत्रतत्र वृक्षमूलेषु स्थापितानि पञ्चषाणि दर्भासनानि च । एक-स्मिन्पीठिकासन उपविष्टो ब्रह्मर्षिर्वसिष्ठः । जवनिकापसर उत्थाय स पर्यटति विचारमग्नः । क्षणाच्च कुटिरं प्रति विलोक्य* -]

वसिष्ठः - आर्ये, यद्यवकाशप्राप्तिः शक्या गृहकार्यादत्रागन्तव्यमल्प-समयम् ।

अरुन्थती - (*कुटिरद्वाराद् बहिरागत्य*) आज्ञापयत्वार्यपुत्रः ।

वसिष्ठः - पुनरपि श्रोतुमच्छामि नवरचितं सूर्यसूक्तं तव कण्ठात् ।

अरुन्धती - कोऽयं व्यामोहः स्वकृतिं प्रति ।

वसिष्ठः - नाहं मोहकारणाच्छ्रोतुकामः । पुनः पुनस्तत्परिमार्ष्टुमिच्छामि सवितुरधिकप्रीत्यर्थम् । (*आसनमुपविशति ।*)

अरुन्धती - बाढम्, गायामि ।

(*इति समीपस्थदर्भासनमुपविश्य गातुमारभते । 'उद्वेति सुभगो' इति मात्रं भणत्येव नेपथ्य उद्घोषः - 'अयमह भोः' इति ।*)

वसिष्ठः - (*उत्थाय नेपथ्याभिमुखमवलोक्य*) अहो, देवषिर्नारिद उपस्थितः ।स्वागतमतिथये । (*इत्यभिमुखं गच्छति ।*)

नारदः - (*प्रविश्य*) ब्रह्मन्, अभिवादये ।

वसिष्ठः - स्वागतं देवर्षये । (*अरुन्धतीं प्रति*) आर्ये, आनयार्घ्याणि । (*अरुन्धत्युत्थायार्घ्याण्यानेतुं कुटिरं प्रविशति । पश्चान्नारदं प्रति*) अलंक्रियतामिदमासनम् ।(*उभावुपविशतः ।*) कस्मा-त्स्थानादिह प्रवृत्तिर्मदनुग्रहाय ।

नारदः - देवैः प्रेषितोऽहं भवत्सकाशम् । सकामा च मे प्रवृत्तिः ।

वसिष्ठः - आदिश्यतां किं कर्म प्रवृत्तेस्ते ।

नारदः - द्विकर्मका प्रवृतिर्मे । याच्आक्रियातः ।

वसिष्ठः - (*सस्मितम्*) किं प्रधानं किञ्च गौणम् ।

नारदः - द्वे अपि प्रधाने तस्याः परस्मैपदत्वात् ।

वसिष्ठः - आत्मनेपदमेव संभवति 'याच्' धातोः प्रवृत्तेश्च बहुधा ।

नारदः - (*सस्मितम्*) एष त्वार्षप्रयोगः ।

(*अरुन्धती अर्घ्योदकफलादिसहिता प्रविशति ।*)

अरुन्धती – (*नारदमुपसृत्य*) क्षणमात्रं पादप्रक्षालनोपरोधं क्षन्तुमर्हति देवर्षिः ।

नारदः – अनुगृहीतोऽस्मि । परं कृतमनेन परिश्रमेण । नास्माकं पादप्रक्षालनापेक्षा व्योमचारिणाम् । उपविशतु भवती ।

अरुन्धती – यथाज्ञापयति देवर्षिः । (*दर्भासनमुपविश्य फलानि संमार्जयति ।*)

नारदः – (*वसिष्ठमुद्दिश्य*) श्रोतुमुत्सहे भवतो नवरचितं सूक्तम् ।

वसिष्ठः – भवत आगमनसमये सूक्तगानार्थमेव प्रार्थितवानासर्षिकारुन्धतीम् ।

नारदः – भावने सतामेकरूपता । अनुग्रहीतुमर्हत्यत्रभवत्यावाम् ।

अरुन्धती – (*फलपात्रमग्रे कृत्वा*) प्रथमं फलाहारः । पश्चाद्विश्रामकाले – (*इत्यर्धोक्ते*)

नारदः – मैवम् । प्रथमं तु सूक्तपाठः । सूर्योपस्थानमन्तरेण ह्याहारो युज्यते । पुनस्तन्निमित्तमेवागमनमस्माकम् ।

वसिष्ठः – (*सस्मितम्*) नारदविश्रामशब्दौ तु परस्परविरोधिनौ ।

अरुन्धती – यथेच्छति भवान् । (*मधुरस्वरेण सूक्तं पठति सूर्योपस्थानाभिधानम्, 'उद्वेति सुभगो' इत्यादि नारद आनन्दसमाधिं नाटयति ।*)

उद्वेति सुभगो विश्वचक्षाः साधारणः सूर्यो मानुषाणाम् ।
चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्य देवश्चर्मेव यः समविव्यक्तमांसि ।।१।।
उद्वेति प्रसवीता जनानां महान्केतुरर्णवः सूर्यस्य ।
समानं चक्रं षर्याविवृत्सन्यदेतशो वहति धूर्षु युक्तः ।।२।।
विभ्राजमान उषसामुषस्थाद्रेभैरुदेत्यनुमद्यमानः ।
एष मे देवः सविता चच्छन्द यः समानं न प्रमिनाति धाम ।।३।।
दिवो रुक्म उरुचक्षा उदेति दूरे अर्थस्तरणिर्भ्राजमानः ।
नूनं जनाः सूर्येण प्रसूता अयन्नर्थानि कृणवन्नपांसि ।।४।।
यत्रा चक्रुरमृता गातुमस्मै श्येनो न दीयन्नन्वेति पाथः ।
प्रति वां सूर उदिते विधेम नमोभिर्मित्रावरुणोत हव्यैः ।।५।।
नू मित्रो वरुणो अर्यमा नस्त्मने तोकाय वरिवो दधन्तु ।
सु गा नो विश्वा सुपथानि सन्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ।।६।।

(अन्तभागे प्रविशति विश्वामित्रो निगूढभावेन । पाठान्ते –)

नारदः - (*नेत्र उन्मील्य*) साधु महाकवे, साधु । सूक्तरचनानिमित्तं त्वामभिनन्दितुमिन्द्रोपेन्द्रप्रमुखैः सकलैर्देवगणैः प्रेषितस्य मम सफल आगमनश्रमः ।

वसिष्ठः - नाहमर्हय एतावतीं प्रशंसाम् ।

नारदः - अतो ज्यायांश्च महिमा ते । नम्रत्वेनोन्नमन्तो नरोत्तमा भवादृशाः ।

वसिष्ठः - (*विनम्रभावेन*) तिष्ठत्वेषा कथाऽत्रैव । अपि कुशलौ तौ पुण्यश्लोकावन्ये च देवाः ।

अरुन्धती - अधुना फलाहारं स्वीकुर्वन्तु । (*फलपात्रमर्पयति ।*) आप्रवेशान्तं च काले काले मार्जितफलानि परिवेषयन्ति ।

नारदः - (*फलपात्रं गृहीत्वा खादयन्नेव*) उपेन्द्रस्तु विष्णुर्नारायणो हरिः सर्वदा ब्रह्मानन्दे निमग्नो वसिष्ठवत् । महेन्द्रस्य तु कैव कथा ।

वसिष्ठः - कथमेवं ब्रवीति भवान् ।

नारदः - अथ किम् । स्वर्गाधिपतिपदरक्षितुकामः स सर्वोच्चपदप्रणाश-भयात्सर्वांस्तपस्विनो महात्मानो न क्षणमपि सहते लभते च न शान्तिं कुत्राचित् । जानात्येव भवान् विश्वामित्रव्यथां तत्तपोभङ्गाय प्रेषिताया सर्वस्त्रीचरित्रविज्ञाया मेनकयोत्पादिताम् ।

वसिष्ठः - (*सस्मितम्*) सावधानो भवतु । अत्रभवती तस्य परमा सखी ।

अरुन्धती - (*अवगणय्य वसिष्ठवचनम्*) निरर्थकस्तत्प्रयासः । ऊषरभूमौ वर्षाधारावत् ।

नारदः - तेन त्वधिकमशान्तचेताः सः ।

अरुन्धती - विश्वामित्रस्य छिद्रं न कामपरता कित्वतिमानिता ।

वसिष्ठः - अन्यच्च । विश्वामित्रस्य लक्ष्यं तु ब्रह्मर्षिपदं न महेन्द्रपदम् ।

विश्वामित्रः - (*स्वगतम्*) महेन्द्राद्बुद्धिमत्तरो महर्षिः ।

नारदः - सुष्ठु वदथो युवाम् ।

वसिष्ठः - अनावश्यकश्च पुरन्दरपुरुषार्थः । यतः स राजर्षिः स्वयमेवात्मनस्तपसां फलं निरन्तरं विफलीकरोति ।

विश्वामित्रः - हुम् ।

अरुन्धती - कथमिव ।

(*श्रवणसमुत्सुको विश्वामित्रश्चौरगत्या समीपमुपसर्पति ।*)

वसिष्ठः - क्रोधसंविग्नमनसा । क्रोधाद्भवति संमोहस्तमाच्च स्मृति-विभ्रमः । पुरा गोहरणसमये स एव महात्मा मामुपादिशत् - 'क्षत्रियाणां बलं तेजो ब्राह्मणानां बलं क्षमेति' । तथापि ब्रह्मर्षिपदकांक्षी स अधुनाऽपि न भजते क्षमां वा करुणां वा । स्वतेजोभिश्चान्तर्दह्यते द्वेषभावेन ।

अरुन्धती - अविरतं तपोविघ्नं जनयति महेन्द्रे कथं संभवति क्षमा ।

विश्वामित्रः - (*स्वगतम्*) अहमपि तदेव ज्ञातुमिच्छामि ।

वसिष्ठः - स्वीकुर्मो दुष्करमेतत् । परं विश्वामित्रस्तु विश्व-अमित्रं भूत्वा स्वनामसार्थकतामन्यप्रकारेण साधयति । नो चेत्कथं तस्य मेनकां प्रति नैष्ठुर्यं मह्यं प्रति च द्वेषः ।

नारदः - अधुना विश्वामित्रपार्श्वादिवाहमत्रागतः । स मन्यते भवां-स्तस्य कोपसंवर्धनार्थमेव तं राजर्षिशब्देन वारंवारं संबोधयति । अन्येऽपि तव सङ्केतेनैव तथा कुर्वन्ति ।

वसिष्ठः - रजोगुणस्यैषा मर्यादा यद्रागरञ्जितदृष्ट्या स सर्वत्रात्मबिम्बं पश्यति । तेन हि नेन्द्रो न जानाति विश्वमित्रस्य लक्ष्यं वा छिद्रं वा । तेन हि पुनर्विश्वामित्रोऽपि न जानाति स्वकांक्षितपदस्य विशेषताम् । न ब्रह्मर्षिपदमाप्यते ब्रह्मसम्बन्धं विना । पुनश्च, कोपाहंकारत्यागेन विना ब्रह्म कथं भवेत् ।

अरुन्धती - किं समाधानं तस्याः शङ्कायाः ।

विश्वामित्रः - (*स्वगतम्*) मे मनोगतमेव पृच्छति सा ।

वसिष्ठः - सत्यं ब्रूयादिति प्रथमो धर्मः सर्वप्राणिनः । विशेषस्तु महर्षेः । यतः सर्वे सामाजिकव्यवहाराः जनानां परस्परविश्वासेन हि संभवन्ति । विश्वासश्च सत्यमूलकः । सत्येन ध्रियते लोकः, सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम् । तस्माच्च यदभिधानाधिकारी यो वर्तते तस्य तदेवोचितम् । मोहाद्वा भयाद्वा गतानुगतिकन्यायेन वाऽनुचितप्रशंसा पातयत्युभयपक्षम् ।

नारदः - यदि भवांस्तं शिष्यात् ।

वसिष्ठः - द्वेष्यभावेन स न मे विश्वसिति । अधुना तपश्चरन्नपि

कृतपूर्वदोषेण गृहीतमनाः स दयनीयो भवति ।

विश्वामित्रः - परीक्षितव्यं यदि हृदयोद्गार एषः, मुखमधुपाको वा केवलम् ।

नारदः - मेनकां दृष्ट्वा नारायणं प्रति निवर्तमानोऽवश्यं तं राजमुनिं भवतो वचनं कथयिष्ये ।

वसिष्ठः - अनावश्यकमेतत् ।

अरुन्धती - (*सविस्मयम्*) कथमिव ।

वसिष्ठः - यतः स स्वयमेवास्माकं संवादं शृणोति ।

(*विश्वामित्रः सभयं झटित्यपसरति ।*)

अरुन्धती - न प्राप्तम् ।

वसिष्ठः - निगूढस्थितः स अत्रैव कुत्रचित् । (*विश्वामित्रो निःशब्दं द्रुतगत्या निष्क्रामत्याश्रमभूमेः । दृश्यते क्षणमात्रं पलायितो जनस्य छाया ।*) पश्य, पलायते स अनावरणभयात् । (*इति छायां दर्शयति ।*)

अरुन्धतीनारदौ - कथमिव चौरभावमाश्रित्य विचरति सः ।

वसिष्ठः - महत्त्वकांक्षिणः सर्वे विघ्नैः प्रतिहन्यमानाः शङ्काशीला भवन्ति । धैर्याभावाच्च कुटिलमार्गाण्याश्रयन्ते । संशयात्मा तु सदैव गुप्तप्रवृत्तिः ।

नारदः - को हेतुः स्यादत्रागमनस्य ।

वसिष्ठः - सर्वज्ञोऽपि भवान् कथमनुकरोति विरलतरलजनस्य चित्तव्यापारान् । देवर्षेरत्रागमनं साशङ्कं पश्यमानः सोऽस्माकं वार्तां ज्ञातुं देवर्षिमनुसरन्निहागत इति मन्ये । वृक्षान्तरितो श्रुतवानासीत् ।

अरुन्धती - अनया गत्याऽचिरेण स भ्रान्तचेता भविष्यति ।

वसिष्ठः - एषा त्वस्य चरमपरीक्षा । अन्तिमपरीक्षा तु सदैवाग्नि-परीक्षा । महासिद्धिः सर्वथा महान्तं पुरुषार्थमपेक्षते । पुनश्च । रक्षितोऽस्ति स्वतपोभिः सः । न हि रजःप्रधानाः दुर्गतिं गच्छन्ति तपस्विनः । केवलं मध्ये तिष्ठन्ति । दयनीया तु केवला मेनका या देवैः साधनीकृता स्वार्थसिद्धये । स्वयं नारायणोऽपि तत्र पक्षकार इति चित्रम् ।

नारदः – मैवं मंस्थाः । तस्य योजना त्वन्यतरा ।

वसिष्ठः – अस्मिन्कलहे वयं तु विश्वामित्रपक्षकारा यतस्तस्य प्राप्ते ब्रह्मत्वे भवेत्पूर्णं सप्तर्षिमण्डलम् ।

नारदः – सर्वस्य हृदयाशयो जानात्येव नारायणो भवदाशयम् । तस्मादेव प्रेषितोऽहं तेन भवत्सकाशम् । न तस्य योजना युष्मद्धेतोर्विरोधिनी ।

वसिष्ठः – समुत्सुकोऽस्मि श्रवणाय नारायणस्येप्सितम् ।

नारदः – भवते निवेदनमेव द्वितीयं कर्म याच्आक्रियायाः । तदपि भगवदादेशादन्यहिताय चेति परस्मैपदम् ।

वसिष्ठः – भक्तहृदयस्य सर्वाः क्रियाः परस्मैपदिन्य एव ।

नारदः – तथैव भगवतः । शृणु तद्वचनम् । आर्यकुलस्य द्वौ प्रतापशीलौ क्षात्रवंशौ सूर्यचन्द्राभिधानौ । तयोः सम्बन्धेनार्यदेशे संभवति धर्ममूलस्य महाराज्यस्य सुप्रतिष्ठानम् । सूर्यवंशसमुद्भवस्य राजर्षेर्विश्वामित्रस्य संततेश्चन्द्रवंशीयेन राजकुलेन समागमेन हि तच्छक्यम् । एतत्कृते विश्वामित्रस्य पुनः संसारप्रवेश इष्टः । तस्मान्मेनका सर्वथाऽनुमोदितव्या । युष्मत्सहकारमपेक्षते स एतस्मिन्कार्ये ।

वसिष्ठः – अपि विद्यत इन्द्रस्यानुमतिः ।

नारदः – भवानेव प्रथमो विद्वान् । वर्तमाने तु गोपनीयमेतदायोजनमिन्द्रविश्वामित्राभ्यामुभाभ्याम् । नो चेच्छंकितमनसावुभावपि बाधां जनयेताम् ।

वसिष्ठः – हरेर्माया दुरत्यया । ब्रह्मर्षेस्तु न किमपि गोपनीयम् । तथाप्यस्मिन्विषये तथा वर्तितुमिच्छामि यथा सर्वेषां कल्याणं भवेत् ।

नारदः – भगवतो नारायणस्यापि तथैवेहा । इन्द्रस्य नीतिः खण्डनात्मिकोपेन्द्रस्य तु मण्डनात्मिका । तस्मादेव गुह्यत्वमपेक्ष्यते तेन ।

वसिष्ठः – (*क्षणं विचारमग्नो मौनं स्थितः । पश्चात् –*) तर्हि विज्ञापयतु भवान् भगवन्तं तस्य मतौ यल्लोकहिताय तत्र वयमपि सहायाः ।

नारदः – तेन सिद्धं अस्मदागमनम् । तदनुज्ञां दातुमर्हतौ भवन्तो मे

गमनाय यतो मेनकाऽपि समाश्वसितव्या ।

अरुन्धती - (*सस्मितम्*) फलाहारोऽपि सम्पन्नः । साधयतु भवान्पुन-रागमनाय ।

वसिष्ठः - मम वचनाद्वदतु मेनकां यद् 'विजिता पार्वती तत्र यत्र कामः पराजितः' इति ।

नारदः - तथा । (*इति निष्क्रान्तः । पटपक्षेपः ।*)

।। इति तृतीयं दृश्यम् ।।

।। चतुर्थं दृश्यम् ।।

[*तपोवने विश्वामित्रस्याश्रमस्य समीपे सुमण्डितकुटिरस्याग्रे ध्यानमग्नैकाकिनी मेनका वेत्रासन उपविष्टाऽस्ति । क्षणादुत्थाय परिक्रामति ।*]

मेनका – अपि विफलपरिश्रमा भवेयम् । तथा सति किं दर्शयामि मुखं स्वामिने तस्य नियोगे विफलतां गता । सकलोऽप्सरः-समुदायोऽपि मामुपहसिष्यति म्लानमुखेन प्रतिनिवर्तमानाम् । यद्बालिशतयाऽहंकारमाश्रित्याङ्गीकृतं मयैतावद्दुःसाहसम् । अधुना का मे गतिः । वरमत्रैवाश्रमे स्थितिर्न पुनरस्तगौरवं स्वर्गनिवसनस्य । अथवा किं विषादेन । नेयं स्वसुखार्था प्रवृत्तिः । देवकार्यसिद्धये देवा एव मे सहाया भवेयुः । कर्मण्येवाधिकारो मे सफलविफलत्वं तु दैवाधीनम् । तद्वि-गुणं कर्तव्यं कर्मसु कौशलम् । (*परिक्रमणाद्विरम्य*) अतः पुनरपि सावधानेनाभ्यस्यामि कामपूजानृत्यम् । तत्प्रथमं सरस्वत्यर्चनम् सकृदिष्टार्थदायकम् ।

नमामि शारदां दिव्यां मयूरासनसंस्थिताम् ।
नृत्यगीतकलाध्यक्षां शुभकार्यवरप्रदाम् ।।८।।

अथ नटराजपूजनम् ।

नटराजं नमस्कृत्य वामाङ्गे स्त्रीस्वरूपिणम् ।
अभ्यस्येयं वरं नृत्यं सर्वकामार्थसिद्धये ।।९।।

(*नृत्यमारभते । अष्टांशघटिकान्तरे नेपथ्ये 'नारायण नारायण' इति स्वरः । क्षणाच्च प्रविशति नारदो वीणापाणिः । द्विस्त्रिवारं 'अयंमतिथिस्ते द्वारमागतः' इति भणति । नृत्ये युक्तमना मेनका त्वनभिज्ञा न प्रत्युत्तरं ददाति । ततो नारदः करतालेन नृत्यतालमनुकृत्य तालभङ्गं करोति । तालच्युता* –)

मेनका – (*नृत्याद्विरम्य क्रुद्धस्वरेण*) कोऽनभिज्ञो मां तालच्युतां करोति । (*नारदं दृष्ट्वा ससंभ्रमं तमुपसृत्य पादयोः पतित्वा* –) देवर्षे नमस्ते । स्वामिनियोगे रता नाजानां भवदागमनम् । तत्क्षन्तव्यो मेऽपराधः ।

नारदः – परिपूर्णकामा स्या अचिरादेव । (*आशीर्मुद्रां रचयति ।*) स्वामिनियोगे रतायास्ते न कोऽप्यपराधः । तत्समाश्वसिहि ।

मेनका - (*म्लानं विहस्य*) कथं देवर्षिरपि मिथ्यावाग्भवति । न परिहासयोग्यं संतप्तहृदयम् ।

नारदः - नैष परिहासो न च मिथ्यावाक् । परमर्षिहृदयसमुद्भूतं निर्व्याजवचनम् ।

मेनका - अपि नाम सफलमनोरथा भवेयं देवर्षिवचनात् ।

नारदः - देवसहाया भवती कथं शङ्कितहृदया ।

मेनका - पुरा किल महेन्द्रप्रेरितो रतिपतिः सतीपतिसंयमचालनेऽपि देवसहाय आसीत् । भस्मीभूतः स हरकोपानलज्वालाज्वलितो यथा तथा कदाचिदहमपि .... (*इत्यर्धोक्ते* -)

नारदः - नैतद्हृदयदौर्बल्यं त्वय्युपपद्यते ।

मेनका - जानात्येव भवान्यदतिक्रोधनः स तपस्वी ।

नारदः - अतिक्रोधनो जन आशुतोषोऽपि भवति ।

मेनका - न पुनः पश्यामि तस्याराधनविधिम् । यतः

अन्धाय दीपो बधिराय गीतं
मूर्खाय शास्त्रं विरसाय काव्यम् ।
तथैव दुर्भाग्यवशान्ममास्मै
कलाविलासस्तपसा जडाय ।।१०।।

नारदः - नीविमोक्षो न कलाविलासः परं रुग्णमनसो हेयविकारः ।

मेनका - जानामि भगवञ्जानामि । किन्तु जानात्येव देवर्षिः महेन्द्रदत्तोऽवधिरचिरात्समाप्स्यति । सर्वथा पराजितायास्तत्तु तरणोपाय एवासीद्विधनस्य पुत्रदाराविक्रयवत् । मर्माहताया मृग्याः मरणचीत्कारः क्षन्तव्यो देवर्षिणा ।

नारदः - कथं क्लैब्यं भजसे । भगवन्नारायणोऽपि ते साहाय्यार्थं समुत्सुकः । तस्य निदेशात्तत्रभवता वसिष्ठेन स्वीकृतं तव मार्गदर्शनम् ।

मेनका - पुर्नजीवितामिवात्मानं पश्यामि । सर्वं सुकरं खलु तयो-र्महानुभावयोः प्रसादेन । किन्तु सर्वे देवा ऋषयश्च केवलं प्रेक्षकभावेन ताटस्थ्यं भजन्ते ।

नारदः - न न, भगवता वसिष्ठेन त्वत्कृते सन्देशः प्रेषितः ।

मेनका - (*औत्सुक्येन*) किं संदिष्टं भगवता ।

नारदः – विजिता पार्वती तत्र यत्र कामः पराजितः इति ।

मेनका – विशदार्थं वक्तुमर्हति तत्रभवान् ।

नारदः – मितभाषी स सूत्रवद् भाषते खलु ।

मेनका – तदा भवानेव व्याख्यानेनानुगृह्णातु ।

नारदः – तपस्विजनानां तप एव प्रियतरं नाङ्गभङ्गिविलासाः । न च कदाचिद्दक्षिणाभिमुखो जनो ध्रुवदर्शने समर्थः । समानशील–व्यसनेष्वेव सख्यं संभवति । तस्मात्त्यज्यतामेषा विलासलीला, हीयतां युवतीजनसुलभं चाञ्चल्यम् । प्रयुज्यतां भक्त्या तपस्वि–जनोचित परिचर्या । तेन हि परां सिद्धिं लप्स्यसे ।

मेनका – दुष्करमेतद्व्रतम् ।

नारदः – महासिद्धिर्महच्छ्रममप्यपेक्षते । तवाराध्यस्तु प्रतिसृष्टिरचयिता, न मुनिसामान्यो पृथग्जनो वा ।

मेनका – तस्मादेवासहायतामनुभवन्ती स्वां भूरिभूरि बिभेमि ।

नारदः – न त्वमसहायाऽद्यप्रभृति । तस्मादुत्तिष्ठ जयाय कृतनिश्चया । नारायणाशिषा स्वाधिकारपदमचिरात्प्राप्स्यसि ।

मेनका – भवानपि वरं दातुमर्हति । (*इति पादयोः पतति ।*)

नारदः – (*आशीर्मुद्रं रचयित्वा*) सफलमनोरथा महाभागा भविष्यसि।

(*पटापक्षेपः ।*)

।। इति चतुर्थं दृश्यम् ।।

।। पञ्चमं दृश्यम् ।।

[*विश्वामित्राश्रमभूमिः । सूर्यास्तसमये सोद्वेगो विश्वामित्रः कुटिराग्रोपत्यकायामुपविष्टः ।*]

विश्वामित्रः - किं कर्म किं विकर्म चेति न जाने । (*उत्थाय परिक्रममाणः*) अनुनारदागमनं किमपि नवीनघटनाचक्रमाशङ्कितमासीत् । मेनकाव्यवहारपरिवर्तनं सूचयत्येव किमपि नवीनं व्यञ्जनम् । तथाऽप्यद्य षोडशे दिनेऽपि न ज्ञायते किं पाचितं तैर्महानुभावैः । मेनकापरिवर्तनमपि दुर्गम्यम् । परित्यक्तकामचेष्टा सा मां द्विगुणतरं सेवते । उपेक्षिताऽपि तिरस्कृताऽपि भर्त्सिताऽपि तपःक्लिन्नाऽपि न मे पराङ्मुखा भवति कमलिनी तपनमिव । वसिष्ठाश्रम उपहास्यतां गतो न पुना साहसं करोमि गुप्तचरणे । एकमेव समाश्वासनकारणं मे यत्संरम्भप्रियोऽपि सः देवर्षिर्न कदाचिदकल्याणाय प्रवर्तते । (*नेपथ्ये नूपुरध्वनिः । कर्णं दत्वा*) कथमियं बाधाऽद्यासन्नायां रजन्यामुपस्थिता । व्येत्यपरसंध्याकालः । तत्सूर्योपासनं कृत्वा समाधावेवोपविशामि येनानायासेन पारेय बाधाम् ।

(*संध्योपासनमारभते । क्षणान्तरं तपस्विनीवेषा प्रविशति मेनका तपोभूमिं च संमार्जयति । पश्चात्पूजानृत्यमारभते । एतावता कालेनास्तंगतः सूर्यः । केवलं तस्याभा चितारोढुकामा सतीव शोभते सिन्दूरवर्णेन । शनैः शनैः नृत्यविकासोऽन्धकारप्रसरश्च । नृत्याद्विरम्य मेनका विश्वामित्रं प्रणम्य कृताञ्जलिर्गायते ।*)

विलपति मम चेतः किं करोमि न्वभागा
हृदयमविरतं मे चीत्करोतीह दग्धम् ।
वरमुने हा पाहि मामिन्द्रशापा-
च्छरणमुपगतानां रक्षणं राजधर्मः ।।११।। (*इति रोदिति ।*)

(*तत्क्षणं पूर्वाकाशे चन्द्रोदयः । चारुचन्द्रिकाविग्ना काचिच्चकोर्युच्चैरारटति ।*)

मेनका - (*उष्णं निःश्वस्य*) हा नाथ ।

विश्वामित्रः - (*नेत्र उन्मील्य*) मा त्वं करुणालापेन मम समाधिं भिङ्ग्धि ।

मेनका - मा समाधिना मम करुणालापमवमन्यस्व ।

विश्वामित्रः – अविनीते, निवर्तस्वेन्द्रसभाम् । ब्रह्मर्षिपदाय तपस्यन्तं मां विचालयितुं ब्रह्माऽपि न प्रभवति ।

मेनका – निष्करुण, निवर्तस्व त्वमपि स्वराज्यम् । न कदाचित्संभवति ब्रह्मर्षिपदप्राप्तिः स्वकर्मपरित्यागेन ।

विश्वामित्रः – किं स्वकर्मोपेक्षितं मया ।

मेनका – अबलाजनविपदुद्धरणम् ।

विश्वामित्रः – (*क्षणं मौनं स्थित्वा, सक्रोधम्*) दूरमपसर छलिनि । चक्रायते मे मतिः ।

मेनका – त्वया दूरीकृताया म ऐहिकस्वर्लौकिकमुभयसुखं नष्टम् ।

विश्वामित्रः – यो जनः सेवकभावमाश्रित्य स्वामिहेतुसिद्धये पाप-माचरति स सर्वथा नैराश्यमेव भजते । यतः सिद्धे हेतौ लाभः स्वामिनो हाने तस्मिन् हानिरयशश्चात्मने ।

मेनका – क्षिप्ते बाणे ह्यहिंसोपदेश इव ते मन्त्रः । नोपदेशेन परं पाणिग्रहणेन हि मां तारयितुं शक्यम् ।

विश्वामित्रः – अनेकवर्षसंचितं मे तपः कथं विफलीकरोमि ।

मेनका – परोपकाराय सतां विभूतयः ।

विश्वामित्रः – न हि कामतृप्तिर्भवति कस्यचिदुपकाराय । श्रूयते च –

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।।१२।।

मेनका –

नाहं जानामि शास्त्राणि नाहं जानामि कौशलम् ।
एतदेव तु जानामि न जीवेयं त्वया विना ।।१३।।

विश्वामित्रः – जानामि त्वहं तपोद्वेषिभिःस्वाधिकाररक्षितुकामैश्च देवैः प्रेषिता त्वाम् । जानामि ते वाक्छलम् ।

मेनका – पुरुषाः सर्वे स्त्रीहृदयव्यापारैरनभिज्ञाः सर्वदा यद्वातद्वा मन्यन्ते ।

विश्वामित्रः – अप्यलीकमेतद् ।

मेनका – स्यात्सत्यं कदा । पूर्वं तु रूपगर्विताया मम विजिगीषा कुण्ठितवती मे दृष्टिप्रसरं प्रखरविद्युद्वल्लीव । पश्चात्तु यथा यथा च तव पौरुषं, मनःसंयमं, स्वमानित्वं च प्रत्यक्षीकृतवती तथा तथा नष्टे माने त्वय्यासक्तहृदयाऽभवम् । क्व

सुखसङ्गलुब्धानां महेन्द्रादीनां देवानां लोलुपता क्व च ते शङ्करानुकारी संयमः ।

विश्वामित्रः - तत्कथं मे संयमं पातयित्वा मां पापकूपे पातयितुमिच्छसि ।

मेनका - शान्तं पापम् । तव पतनं मनसाऽपि न चिन्तयामि । इच्छामि केवलं ते परिचर्याऽधिकारं सहधर्मिणीत्वं च ।

विश्वामित्रः - न हि तपस्विनः कामिन्याश्च सहधर्मित्वं सम्भवति।

मेनका - तदाऽहमपि तपस्विनी भवेयम् ।

विश्वामित्रः - यद्यच्छला ते प्रीतिस्तर्हि सहाया भवितुमर्हसि मे न विघ्नरूपा ।

मेनका - सर्वकार्येषु ते सहधर्मिणी भविष्यामि । किं ते प्रियं करवाणि ।

विश्वामित्रः - अप्सराऽसि तस्मादपसर ।

मेनका - अपसृतोऽप्सराभावः ।

विश्वामित्रः - चाञ्चल्यं संयम्य ममादेशमनुवर्तस्व ।

मेनका - आज्ञापयतु भवान् ।

विश्वामित्रः - गच्छ त्वमधुना यावत्समाधिमातिष्ठे ।

मेनका - कुत्र गच्छामि प्रवृद्धायां रात्रौ । अत्रैव निरापदं स्थास्यामि ।

विश्वामित्रः - देवरक्षिताया भयं कुतः । न पुनरर्हसि मम प्रथमाज्ञामुपेक्षितुम् ।

मेनका - बाढम् । गच्छाम्याज्ञाधरिणी ते । (*इति निष्क्रान्ता ।*)

विश्वामित्रः - (*स्वगतम्*) दिष्ट्या निरस्ता बाधा । (*विचारमग्नः पर्यटति । क्षणाच्च नेपथ्ये चित्कारः मेनकास्वरश्च 'रक्ष रक्ष कुशिकनन्दन । त्वमेकं शरण्यमशरणाया मे ।'*)

विश्वामित्रः - (*कर्णं दत्वा*) आः किमिदम् । अपि सत्यं मया बहिष्कृता सा कष्टात्कष्टतरं गता ।

(*पुनर्नेपथ्ये 'धावत, धावत । एते दस्युराजसेवका अपहरन्त्यप्सरसम् ।'*)

विश्वामित्रः - (*सनिश्चयम्*) सर्वथैव त्रातव्या सा दस्युत्रासात् । ममैव दायित्वमस्मिन् विषये । (*इति निष्क्रान्तः । क्षणात्प्रविशन्ति केचिद्देवपुरुषाः ससंभ्रमम् ।*)

एकः - (*अत्रतत्र दृष्टिक्षेपं कृत्वा*) न दृश्यत ऋषिरपि । किं कुर्मः । (*अन्विष्यन्ति सर्वत्राश्रमपदे ।*)

द्वितीयः - अये, कालक्षेपं नोपेक्षते प्रसङ्गः । महेन्द्रं गत्वा यथावृत्तं

निवेदयामः ।

तृतीयः – अथवाहं वसिष्ठाश्रमं गच्छेयम् । (*निष्क्रान्ताः ।*)

(*नेपथ्ये पुनरपि कोलाहल विश्वामित्रस्वरेण । 'अपहत दस्यवो रक्षांसि वेदसदाः । अपहत आततायिनः ।' इति त्रिर्गर्जितिम् । धावतानां जनानां कोलहलः । क्षणात्प्रविशति विश्वामित्रो गतचेतनां मेनकां स्कन्धे कृत्वा । उपत्यकायां गत्वा चर्मासिने मेनकां धीरं निदधाति । समीपे चोपवेशति ।*)

विश्वामित्रः – कुत्र पलायितास्ते देवाङ्गनारक्षका देवपुरुषाः । सुखासङ्गलुब्धास्ते क्षीणवीर्याः स्वजनमपि परिक्षितुमसमर्थाः । (*सकटुस्मितम्*) तेनैव ते न सहन्ते प्रसृतमपरेषां तेज इति मन्ये । (*क्षणं विमृश्य सखेदम्*) कथमधुनापि न जागर्तीयम् ।

मेनका – (*अचेतनावस्थायामेव*) राजर्षे, त्रायस्व । देवैरुपेक्षिताया दस्युभिश्च घर्षिताया मे किं शरणं त्वया विना ।

विश्वामित्रः – बाले मा बिभीहि । सर्वथा परिरक्षिताऽसि । (*समीपं गत्वा दृष्ट्वा च*) अरे, मूर्छावस्थायामेव प्रलपति सा । कीदृशोऽयं विश्वासो मयि तस्याः। अप्यहमेतावद्विश्वास–योग्यः । रूक्षचिन्तनपरेण मया सदैवावहेलिता –(*इत्यर्धोक्ते प्रविशति क्रोधाध्मातः कृष्णकायो दस्युपतिः । प्रविशन्नेव –*)

दस्युपतिः – आः, कुत्र गतः स मुनिवञ्चकः ।

विश्वामित्रः – (*उत्थाय समक्षं भूत्वा*) किं मृगयते भवान् ।

दस्युपतिः – त्वामेव । प्रत्यर्पय मे मनोनीतामप्सरसम् ।

विश्वामित्रः – न बलात्कारेण तां हर्तुमर्हति दस्युपतिः ।

दस्युपतिः – अनुमतो राक्षसविवाहोऽस्मज्जातिषु ।

विश्वामित्रः – स्यात्कदाचित् । निषिद्धस्तु स आर्येषु । इयं बाला चार्या ।

दस्युपतिः – तथैव निषिद्धोऽप्सरःसहवासो मुनीनाम् ।

विश्वामत्रः – नाहं धर्मं श्रोतुमुत्सहे दस्युतः । आर्तत्राणं सनातनो राजधर्मः ।

दस्युपतिः – याच्ञया न प्रयच्छसि चेद्बलेन हरिष्यामि ।

(*मेनकामुपसर्पितुमिच्छति । मेनका पुनरपि चीत्करोति ।*)

विश्वामित्रः - (*मार्गावरोधं कृत्वा*) विश्वामित्राऽश्रमोऽयम् । न कोऽप्यत्र बलात्किमपि कर्तुं शक्ष्यति ।

दस्युपतिः - (*वर्धितमन्युना*) दूरमपसर ।

विश्वामित्रः - नो चेत् -

दस्युराजः - हन्तव्योऽसि मया ।

विश्वामित्रः - दस्युराजो न संवेत्ति किं केन कथयतीति । मद-मलिनगन्धो मातङ्गो हरिं घर्षयितुमक्षमः ।

दस्युपतिः - तपसा कर्षितदेहस्यापि त एष दर्पः । तदुपभुज्यतामात्मनः कर्मणः फलम् । (*इति कृपणमाकृष्य प्रहर्तुमिच्छति* ।)

विश्वामित्रः - (*साट्टहासम्*) मूर्ख, पश्य । (*इति विद्युद्वेगेन दस्युपतिं प्रघृष्य* करात्कृपाणं पातयित्वा तस्योपरि पदं न्यस्य -)

कृशोऽपि गलिताङ्गोऽपि वन्याधीशो वनाधिपः ।
न बिभेति शृगालात्स पीनान्मत्तात्कदाचन ।।२४।।

दस्युपतिः - (*सक्रोधम्*) भवतु । उपायान्तरेण मनोवाञ्छितं लप्स्ये ।

विश्वामित्रः - न पुनरस्मिञ्जन्मनि ।

दस्युपतिः - द्रक्ष्यसेऽचिरेण । (*विवशतया विवृद्धमन्युर्निष्क्रामति* ।)

मेनका - (*तारस्वरेण*) गृह्यतां गृह्यतां स शठः । (*उत्थातुमिच्छति* ।)

विश्वामित्रः - (*उपसृत्य*) बाले, समाश्वसिहि । अपाकृतः स दुष्टः ।

मेनका - (*सभयम्*) यदि पुनरागच्छति ।

विश्वामित्रः - सर्वथा रक्षिताऽसि विश्वामित्रतपसा । तस्मात्सुखं स्वपिहि ।

(*ततः प्रविशति वसिष्ठाश्रमगतो देवपुरुषः* ।)

देवपुरुषः - राजर्षे, तत्रभवता वसिष्ठेन संदिष्टं 'मेनकासहायो भवितुमर्हति महर्षिः । अहमप्यविलम्बं गच्छामि ते साहाय्यार्थम् ।'

विश्वामित्रः - मद्वचनाद्वक्तव्यः स ब्रहर्षिः 'न कष्टं कार्यमिति । विश्वामित्रे जीविते सति न कोऽप्यबलाजनं घर्षयितुं क्षमोऽस्मिन्प्रदेशे । न पुनरहं कस्यचित्साहाय्यमपेक्षे स्वधर्मपालने ।'

देवपुरुषः - यथा राजर्षेरादेशः । (*इति निष्क्रान्तः* ।)

मेनका - कुत्र निवसेयमधुना ।

विश्वामित्रः – आप्रभातमत्रैव सुखं स्वपिहि । प्रभातेऽरुन्धत्याश्रमं गमिष्यसि । अहं तावत्समाधौ तिष्ठामि द्वाःस्थः ।

मेनका – न जाने किं भविष्यति प्रभातपर्यन्तम् । (*पुनरपि शिलातले स्वपिति । विश्वामित्रो द्वारं गत्वा समाधौ तिष्ठति । व्यतीतेऽल्पसमये स्वप्नस्था मेनका विश्वामित्र-मुद्दिश्यास्फुटं प्रलपति ।*) पुरुषर्षभ, पराक्रमं ते प्रत्यक्षीकृत्य निर्जितं मे हृदयं निवारितमपि मुहुर्मुहुर्धावति त्वां प्रति सरित्स्रोतो रत्नाकरमिव । (*क्षणेन गातुमारभते ।*)

सकामकामिनी श्वसत्यमन्दमुष्णमाततं
सतृष्णनेत्रपल्लवी न मीलति क्षणं पुनः ।
समुच्छलत्पयोधरौ ......
चुकूजितं सुकोमलं ..... समर्पये च तेऽखिलम् ।।१५।।

(*निद्राधीना भवति । दूरे दस्युकृतदुन्दुभिनादः ।*)

मेनका – (*उत्थाय सचीत्कारं विश्वामित्रं परिवेष्ट्य*) पुनरागता ते दुष्टाः सहस्रशः । अधुना मामसहायामपहृत्योपभुज्य क्षतविक्षतां करिष्यन्ति ।

विश्वामित्रः – (*नेत्र उन्मील्य*) शान्तं पापम् । अये, स्वप्नस्थेव दृश्यते । आः किं करोमि स्वार्थरतेन सुरेशेनावज्ञाता कामुकेन दस्युपतिना-ऽभिद्रुता दुःखिता सा ममैव चरणमागत्य शरणं क्रन्दति । (*इति मेनकां दूरीकर्तुं यतते ।*)

मेनका – अयि कठोर, तपः किल ते प्रियं नाबलाजनरक्षाधर्मः । त्वमपि निष्करुण एव महेन्द्रवत् । विशाले विश्वविस्तरे न कोऽपि मे सहायः । (*रोदिति ।*)

विश्वामित्रः – अहो, कृतघ्नता नारीणाम् । कृतोपकारं मुहूर्तेन विस्मरति ।

मेनका – मुहूर्ताविध्युपकारो मुहूर्तमेव स्मर्तव्यः । क्षणिककरुणा संवर्धयिष्यति मे सङ्कटम् । श्वस्त्वया निराकृतां मामधिकं त्रासयिष्यति विवृद्धमन्युः स दस्युसमुदायः ।

विश्वामित्रः – श्वस्त्वामरुन्धतीसहितो वसिष्ठो रक्षिष्यति ।

मेनका – अतो विश्वामित्रस्मृतावबलाजनपरिपालनं भवति न राजधर्मः ।

विश्वामित्रः - कथं कथम् ।

मेनका - अपि विस्मृतं भवताऽल्पसमयपूर्वं दत्तं वसिष्ठसंदेशप्रत्युत्तरं 'न पुनरहं कस्यचित्साहाय्यमपेक्षे स्वधर्मपालन' इति । किं कथयिष्यामि ताभ्यां महानुभावाभ्यां यदि पृच्छेतां तौ 'विश्वामित्र-पार्श्वात्कथमिहागमनं भवत्या' इति । (दूरे *पुनर्दुन्दुभिनादः । मेनका मुनिपादौ दृढतरं परिष्वजति ।*)

मेनका - किं तेन तपसा यत्कठोरतामेव संवर्धयति । अथवा पुरुषाः सर्वे दाक्षिण्यरहिताः जाताः । नारीमात्रं स्वार्थाय क्रीडनकमेव मन्यन्ते । (*भृशं रुदन्ती मूर्च्छति ।*)

विश्वामित्रः - बाले, क्षमस्व मे कठोरताम् । त्वं क्रीडनं परन्तु देवानाम् । समानदुःखभागिनावावाम् । अत्राहं सुदीर्घकालेनोग्रतपश्चरन् ब्रह्मर्षिपदप्राप्तये दैवं कठोरमिति शपामि । इयमपि परिशोषय-त्यस्मत्कृते मृणालसुकुमारं स्वदेहं मां च कठोर इति शपति । सर्वे च ते मां निष्करुण इति नाम उपालम्भन्ते । महत्त्वाकांक्षिणः सर्वे निष्करुणा एवं धार्यन्ते सामान्यैः । तत्किं करवाणि, न जानाति कोऽपि मे हृदयव्यथाम् । किं कर्म किमकर्म इति मोहिता मे मतिरत्र । (क्षणमेकं तूष्णीं पर्यटति । पुनः सोद्वेगं म्लानं विहस्य) सुष्ठु गृहीतोऽस्मि । इतो व्याघ्र इतस्तटी । यदि करुणाप्रणोदितः स्वीकरोम्यस्याः प्रार्थनां तदा तपश्च्युतस्य मे काऽपेक्षा ब्रह्मर्षिपदस्याच्युतस्य । यदि बधिर इवोपेक्षेय तदा कारुण्याभावे ब्रह्मर्षिपदायानर्हः । यतो दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशायैव ब्रह्मर्षित्वमिष्यते ।

मेनका -
मधुरं वर्षति ... नु ... अमृतं रजनी
वायुर्वहति ... च ... चन्दनगन्धम् ।
कर्षसे कायं ... किमिव ... कठोरं
मनुजशरीरं ... निमिषविनाशम् ।।१६।।
भव करुणापर ... वरय वरंवर-
ममरमनो ... दितमर्पय ... मर्षय ।।१७।।

(*दूरे पुनरपि श्रूयते भयावहो ध्वनिर्दस्यूनाम् । तेन मूर्च्छावस्थायामपि भृशं कम्पते मेनका । चीत्कारं च करोति ।*)

विश्वामित्रः - (*समीपमुपसृत्य*) स्वप्नजागरसुषुप्तौ मामेव चिन्तयति सदा । (*मेनकामुखं निरीक्ष्य*) मृणालमसृणं मुखमस्याः सुषुप्तावस्थायां निर्व्याजितयाधिकं शोभते । रूक्षचिन्तनपरस्य मे वचनानि तस्या हृदये नवपल्लिकास्तबके वज्रवर्षाणीवेति नातिचित्रम् । (*स्प्रष्टुकामः हस्तौ प्रसार्य पुनः समाहरति ।*) को मे धर्मः प्रचोदयादस्मिन्विषये । अन्ततो गत्वा धर्म-स्वरूपं हि चोदनालक्षणम् । जीवस्याज्ञानत्वात् । अथवा मनोवृत्तिनिरोध- पूर्वकमाधास्ये । कदाचिन्ममान्तर्याम्येव मां शिष्यात् । (*पुनश्च ध्यानमध्यास्ते । गच्छता कालेन चन्द्रास्तः पूर्वाकाशे चारुणोदयः । नभोऽखिलं पक्षिरवेणानुदति । नेत्र उन्मिल्य* -) हे रक्ताङ्गि, रक्तवाससे, ब्रह्मविद्ये, मोहान्धकार-नाशिनि मातर्गायित्रि, आयाहि । वरदे देवि, ज्योतिःकलशेना-भिषिञ्चस्व मां द्विधा-संविग्नमानसम् । मा मे बुद्धेर्विरुद्धं भवतु च मनः । देवि, मेऽपयातु पापम् । यत्किञ्चित्कुर्यां तत्स्वस्थ-चित्तेन निश्चयबुद्ध्या भवतु । (*शनैः सूर्यबिम्बमुद्गच्छति । तद्दृष्ट्वोत्थाय कमण्डलुमादाय जलेन चोपस्पृश्य* -)

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आ प्र द्यावापृथिवी अन्तरीक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।।१८।।

(*क्षणं स्थित्वा सजलनेत्राभ्याम्*) हे सवितर्, त्वदृते किं मे शरणम् । अहं सूर्यवंशीयः त्वं मे कुलस्यादिपुरुषः । त्वं मित्रो विश्वस्य, अहमपि विश्वामित्रः । मे धियः प्रेरय । (*नेत्रे निमिल्य सगद्गदम्*)

ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् ।।१९।।

(*त्रिः पठति मन्त्रस्य चरमांशम् । पाठान्तसममेव नभोवाणी* -)

नभोवाणी - आत्मानं विद्धि । सार्थनामो भव । तेनैव सिद्धिमाप्स्यसि । तपस्ते निर्मानिकामं करुणारसितं भवतु । यः करुणां करोति करुणार्हो भवति स एव ।

विश्वामित्रः - (*विश्वामित्रश्चकितचकितमत्रतत्र दृष्टिक्षेपं कृत्वा*-) अये, क एष मे बोधयति ।

(पुनर्नभोवाणी -)

नभोवाणी - यः करुणां करोति स करुणार्हो भवति । आत्मानं विद्धि । विश्वामित्रो भव ।

विश्वामित्रः - *(शिरोबद्धाञ्जलिः)* भवत्वेवम् । *(क्षणं तथैव तिष्ठति ।)*

मेनका - *(ससंभ्रममुत्थायेतस्ततो दृष्ट्वा)* कुत्र समागताऽस्मि । *(विश्वामित्रदर्शनेनेषत्समाश्वस्ता झटित्युत्थाय क्षणं ध्यानमग्ना पद्मासने स्थिता । पश्चात्सूर्यं नमस्कृत्य विश्वामित्रमुपसृत्य प्रणम्य भक्तिभावपूर्वकम् -)* महर्षे, अभयं दातुमर्हसि ।

विश्वामित्रः - अभयं ददामि ।

मेनका - त्वमेकं मे शरण्यम् । मा मां बहिः कृथाः ।

विश्वामित्रः - *(तस्या मस्तके हस्तं निधाय शांतशुचिस्मितेन -)* नन्दस्व देवि । दिव्यवाक्यप्रणोदितस्य मे निरस्ताः सर्वाः शङ्काः । त्वं जयाऽहं पराजितः ।

मेनका - *(आश्चर्यमुग्धा क्षणं स्थित्वा साशङ्केव हर्षविह्वला विश्वामित्रस्य पादौ गृह्णाति ।)*

अद्य प्रभृति जाताऽस्मि दासी तव ह्यहं प्रभो ।
दयाभिस्तव क्रीताऽहं दयिताऽहं जितो भवान् ।।२०।।

विश्वामित्रः - उत्तिष्ठ । प्रातः कर्माणि निर्वर्तयित्वा विवाहमण्डलं रचयिष्यावः सूर्याग्निसाक्ष्ये ।

(मेनकोत्थाय वाममार्गेण विश्वामित्रश्च दक्षिणमार्गेण निष्क्रमतः । तत्क्षणं नेपथ्ये मङ्गलवाद्यध्वनिः । अनन्तरं प्रविशति नृत्यन्तीनामप्सरसां समुदायः । मण्डयति चाश्रमभूमिं सुलभमण्डनैः पुष्पपत्रकल्पितैः । प्रतिनिवृत्तो विश्वामित्रश्चकितचकित इव पश्यन्तिष्ठति । प्रतिनिवृत्ता समुत्सुकमेनका प्रविश्याप्सरसां समूहं प्रेक्ष्य पलायितुमिच्छन्ती हठाद्गृहीतैकयाऽप्सरसा । अन्याभिश्चालङ्कृता विवाहमङ्गलाभूषणवस्त्रैः । क्षणाच्च द्वे अप्सरसौ मेनकां विश्वामित्रसमीपं नीत्वा पार्श्वे स्थापयतः । तदनु अप्सरोवृन्दो विवाहमङ्गलं गायन्नृत्यमारभते । विश्वामित्रमेनकयोश्च ग्रीवयोर्माले अर्पयति ।)

विश्वामित्रः - ॐ सहनाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै। सह चरावहै सकलधर्मकर्माणि । मा विद्विषावहै । ॐ स्वीकरोमि ।

अप्सरोवृन्दः – स्वस्ति ।

आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च
द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च ।
अहश्च रात्रिश्च हरश्च हरि-
र्धर्मोऽपि कुर्यादनयोः शुभं यत् ।।२१।।

(*पटाक्षेपः ।*)

।। इति पञ्चमं दृश्यम् ।।

।। षष्ठं दृश्यम् ।।

[*वसिष्ठाश्रमसमीपवर्तिनी भूमिः । पश्चिमाकाशे सन्ध्यारागः । त्रिचत्वारो वनौकसो बटवः क्रीडामग्ना दृश्यन्ते । तेषामेकतमो नासिकाग्रे दक्षिणकरतर्जनीं निधाय* -]

क्रथमः - श्-श्-श् आयाति सः ।

द्वितीयः - को नाम ।

प्रथमः - स राजर्षिः ।

द्वितीयः - राजर्षेस्तु कोऽर्थः ।

तृतीयः - यो न राजा न च पुना ऋषिः स राजर्षिः । (*हसति।*)

द्वितीयः - न गृहीतम् । दृष्टान्तेन व्याचक्ष्व ।

तृतीयः - यथा त्वं न श्वा न च पुच्छवांस्तथाऽपि शुनःपुच्छः ।

द्वितीयः - उपहससि केवलम् । स्पष्टं वद क आगच्छतीति ।

प्रथमः - ऋषिर्विश्वामित्रः । यस्याश्रमे - (*इत्यर्धोक्ते* -)

तृतीयः - नृत्यति सा देवाङ्गना 'ततत थै थै । (*नृत्याभिनयं करोति।*)

प्रथमः - (*विहस्य*) स एव यो नृत्यारम्भे नेत्रे निमील्य प्राणायामं करोति । (*स्वनासिकां गृह्णाति ।*)

द्वितीयः - कदाचिद्योगी स नेत्रे निमील्य नासिकाग्रेण पश्यति ।

तृतीयः - अथवा नासिकाग्रं स्थितमपि न पश्यति ।

द्वितीयः - संयमिनः सर्वे वन्दनीयाः । तानवमान्यमानो देवानांप्रिय इव लक्ष्यसे ।

तृतीयः - भो देवानाम्-अप्रिय, मेनकापरिग्रहितुरस्य संयमोऽपि दूषितः ।

प्रथमः - आसन्नायां रजन्यां कथमागतः स अत्र ।

तृतीयः - वृक्षान्तरितं स्थित्वा द्रक्ष्यामः । (*सर्वे वृक्षान्तरितं तिष्ठन्ति ।*)

(*ततः प्रविशति क्षुब्धचेता विश्वामित्रः ।*)

विश्वामित्रः -(*सोद्वेगं स्वगतम्* -) अपि सत्यं स्यादेतत्परिहासविजल्पितं रम्भाया यद्विश्वामित्रतपोभङ्गेन मुदितो महेन्द्रः पञ्चरात्रोत्सव-मादिशत् । मेनकोद्वाहं कथमिव ते तपोभङ्गं मे गणयन्ति । अपि लुब्धोऽहं नारीस्तनभरनाभिनिवेशेन । अपि वञ्चितोऽस्मि पुनरपि देवैर्वारिसराशस्त्रेण । नारी नाम मारीचप्रकृतिरिति जनोक्तिः । तदानीं तु - (*शोकविह्वलस्वरेण*) व्यर्थं मे तपो

व्यर्थं मे जन्म व्यर्थं च सर्वमिदं जगत् । अधुना देवमुनि–जनपदानां सर्वेषामुपहास्यतां गमिष्यामि । अवमानात्तु मे मरणं वरम् । (*दीर्घं निःश्वस्य*) ब्रह्मर्षिपदमपि दूरतरं गतं गन्धर्वनगरमिव क्षणिकावेगाभिभूतस्य मे । त्रिशङ्कुदशामापन्नस्य मे का गतिरधुना । गतं राज्यं नष्टञ्च तपः । तत्किं करवाणि । अपि त्यजेयं तां सुन्दरीं पदलग्नां कण्टकलतामिव । आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति । आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेदिति च श्रुतिः । (*क्षणं तूष्णीं तिष्ठति । पश्चाच्छिरो घूर्णयित्वा*) न न न । नाहं रूपाकृष्टः कामातुरो न च साऽनृतवाक् छलिनी । करुणाप्रेरितो मे परिग्रहोऽस्याः । निजसर्वस्वं ददाना साऽपि न वक्रभाविनी । सरलभावपूर्णं हि तस्याः समर्पणम् । तत्परिहर्तव्य एष व्यामोहः । प्रतिज्ञा–पूर्वकं परिगृह्याधुना त्यजता तां मया पुनरसत्याचरणेन भवितव्यम् । तदानीं तु स्वकर्मणैवानधिकारत्वं मे सिद्धं स्याद् ब्रह्मर्षिपदाय । तत्सकलं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वा स्थिरबुद्ध्या दृढभावेन च 'सह वीर्यं करवावहै' इति प्रतिज्ञानुरूपमात्मानं परमे ब्रह्मणि होतव्यम् ।
ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् ।। (*इति पूर्ववत् त्रिः पठति ।*)
हे जातवेदस् शाधि माम् । कीदृशं केन कारणेन चेदं मन–श्चाञ्चल्यं पुनःपुनरपि मे शङ्कां जनयति । (*निमिषं ध्यानस्थः स्तिष्ठति ।*) ... आः प्राप्तम् । एषा तपोभङ्गवार्तैव मे मनो दूषयति । यत्राहमनन्तरत्नप्रभवं गिरिं पश्यामि तत्र ते तेजो–द्वेषिणो देवाः पापपूर्णं रसातलमन्वेषयन्ति । आपरितोषं निन्दन्तु ते मे कर्म । अद्वैतानुभवपूर्णस्य प्रीतियोगे परतः प्रमाणस्यानपेक्षा । द्वयोर्हृदयस्थोऽन्तर्यामी हि पुण्यपापनिर्णायको प्रीतिविषये । ... तथाऽपि रम्भावचसा भृशं दुःखिता सा सती केनाप्युपायेन समाश्वसितव्या । परप्रमाणाभिलाषि च नारीहृदयम् । तत्को मे सहायोऽस्मिन्विषये ।

तृतीयः – (*वृक्षान्तरं स्थितैव*) अये आश्चर्यमाश्चर्यम् । विश्वामित्रनामधेयस्य राजर्षेर्विशाले विश्वस्मिन्न किमपि मित्रम् । (*इत्युक्त्वा पलायितः ।*

अन्यावपि तमनुसरतः ।)

विश्वामित्रः - अरे, कोऽयं मामुपहसति । एते तु वनौकसा बाला येषां रञ्जनतां गतः । युज्यते । बाला अप्युपहसन्ति खल्वसमञ्जसम् । तस्मात्परित्यक्तव्येयमसमञ्जसता । नूतन-प्रस्थानं चारब्धव्यं मेनकाद्वितीयेन मया । पुनश्च परमे ब्रह्मणि होतव्य आत्मा । (*क्षणं विचारमग्नः स्थित्वा सुप्तोत्थित इव*) कुत्र समागतोऽस्मि विचारचक्रारूढः । (*पार्श्वं विलोक्य*) अरे, इयं त्वरुन्धत्याश्रमभूमिः । तत्कृतं तर्केण । दिष्ट्या मे सुषुप्तिमनोदेवतैव मामत्रानयत् । (*पुनः प्रविशन्ति बटवः ।*) तस्मात्तत्रभवत्येव मे शरणम् । सा च मां प्रति सहृदया । सौभाग्येन कदाचिद्वसिष्ठमतोपलब्धिरपि स्यात् । (*एकपदमाश्रमद्वारे निधाय पुनरपि निवर्तयित्वा*) परन्तु स सदैव मामुपहसति । अपि प्रहसेन्मां पुनरपि नितान्तलम्पटं परिकल्प्य । (*सक्रोधम्*) तर्हि तु ... (*दन्तान्किचकिचायति ।*) न सहेयमधिकम् । अद्यैव निराकरणमस्तु स्पर्धाभावस्यावयोः । दम्भस्य तस्यानावरणं कृत्वाऽरुन्धतीसमक्षं हनिष्यामि तम् । स एव मूलं मे राज्य-हानेः वैराग्नेः तपोभङ्गस्यावमानस्य च । (*वृक्षमूले पतितं कुठारं दृष्ट्वा*) किमिदं रजतमिवाभाति । आः कुठारो वर्तते । दिष्ट्या दैवेन प्रहितं शस्त्रं दुर्जनं दण्डयितुम् । (*कुठारं गृहीत्वा दृढपदेन निष्क्रान्तः ।*)

द्वितीयो बटुः - वरुणो रक्षतु ब्रह्मर्षिम् ।

प्रथमः - मूर्ख, आत्मनैवात्मानं रक्षति ब्रह्मर्षिः । पश्य उदितोऽयं विधिरिव विधुस्तत्साहाय्यार्थम् ।

तृतीयः - गृहं गतो घर्मांशुः । तद्वयमपि गच्छामः ।

द्वितीयः - युवां गच्छतम् । अहं तु प्रेक्ष्ये नाटकस्यास्योत्तरकाण्डम् । (*इत्याश्रमद्वारं प्रविशति । अन्यौ द्वावपरां दिशं गच्छतः ।*)

।। इति षष्ठं दृश्यम् ।।

।। सप्तमं दृश्यम् ।।

[*गुरुकुटीरबहिर्देशे कोमलकुमुदिनीनायककराभिषिक्तारुन्धती शान्तभावेनासीना शिलातले । क्षणाच्च प्रविशति कुठारहस्तो विश्वामित्रः ।*]

विश्वामित्रः – (*स्वगतम्*) वृक्षान्तरितो क्षणमेतयोश्चर्यां पश्यामि । ततः स्वधर्मं निश्चित्याविकम्पेनाचरिष्ये । आर्यायास्तपः खलु मे असमञ्जसं जनयति । (*वृक्षघटायां निलीनः स्थितः ।*)

अरुन्धती – (*कुटिराभिमुखं विलोक्य*) महर्षे न खलु धर्मचिन्तनं युज्यत अन्धकारमुपाश्रित्य । बहिरागत्य पश्यतु कलानाथस्य पूर्णिमाविलासम् ।

विश्वामित्रः – (*सभयं स्वगतम्*) अपि पुनरपि गृहीतोऽस्मि । अप्येषोक्तिर्मामुद्दिश्य संभवति ।

वसिष्ठः – (*कुटिरद्वारमुद्घाट्य प्रविशन्नेव –*) स्थाने खलु तवोपालम्भः । अयमुपस्थितोऽहमर्धाङ्गनाऽऽदेशात् ।

विश्वामित्रः – (*समाश्वस्य*) अयं तु दम्पतीसंवादः । तन्निगूढस्थित्वैव श्रुणोमि । कदाचिन्मामुद्दिश्य संभाषा भविष्यति ।

अरुन्धती – रमणीयं ननु रजतरजनीरूपं मधुरमधुमासमृगाङ्काङ्कितम् ।

वसिष्ठः – (*समीपमुपसृत्योपविश्य सस्मितम् –*) तथाऽपि न तथा मनोहरा राका यथा पुनितप्रेमप्रोज्ज्वला प्रिया । (*इति चिबुकं स्पृशति ।*)

अरुन्धती – न चापलमुपपद्यते वानप्रस्थेषु ।

वसिष्ठः – सदाचारसंयतस्नेहाचारस्तु स्वधर्म एव प्राणिनां सर्वास्ववस्थासु ।

अरुन्धती – आर्यपुत्र, अप्यस्ति किञ्चिद्यदधिकं प्रसादयति चित्तं चन्दनशीतलाच्चारुचन्द्रप्रकाशात् ।

वसिष्ठः – (*गाम्भीर्येण*) ओम् ।

अरुन्धती – किमिव ।

वसिष्ठः – (*सस्मितम्*) वृषभजन्मनः पुरुषवृषभस्य तपः ।

अरुन्धती – न समवगतम् ।

वसिष्ठः – विमृश्यताम् ।

अरुन्धती – 'वृषभजन्मा' इत्यभिधानस्य तु द्वावधिकारिणौ तपस्विनौ वसिष्ठविश्वामित्रौ शशिराहुसम्बाधिनौ ।

वसिष्ठः - तयोरेकतमस्तु जानास्येव प्रसिद्धपातकीति ।
(आकाशे मन्दं भवति चन्द्रतेजः ।)

विश्वामित्रः - *(सक्रोधं शिरो घूर्णयन् -)* अनेन घटस्फोटेनाविर्भूताऽस्य शत्रुता दुष्टता च । दुष्टश्च दण्ड्यो राजर्षिणेत्यनेनैवोपदिष्टं पुरा । *(इति परशुमुद्यम्य वसिष्ठं प्रति चलति । तत्क्षणं श्यामघनखण्डेनावृते चन्द्रे गाढं तमः प्रसरति । अन्धकार एव -)* तदेकोऽवशिष्टो - *(इत्यर्धोक्ते निबिडे उलूकः शब्दायते । अनन्तरं सचीत्कारं 'ऋषे, सावधान' इति वचनसहितः कस्यचित्पलायनरवः ।)*

अरुन्धती - *(त्रस्ता इव)* कीदृशोऽयं ध्वनिः ।

वसिष्ठः - कौशिकस्य एव ।

अरुन्धती - पतितस्य इव -

पुरुषशब्दः - पतनमपि तस्य जगदुद्धरणायैव गङ्गाऽवतरणमिव । *(इति वदन्नेवोत्तिष्ठति । पुनः शब्दचीत्कारः ।)*

अरुन्धती - हे नाथ, कुत्राऽसि । भीताऽहमन्धकारे कौशिकरवदुर्निमित्तेन ।

पुरुषशब्दः - आः पतितोऽहम् ।

(मेघेभ्यो मोक्षकामो मयङ्कः पुनरपि ज्योत्स्नाजालं प्रसारयति मन्दं मन्दम् ।)

वसिष्ठः - *(प्रतिनिवृत्य)* मुञ्चतु मनोमालिन्यम् । तपस्ते तमस्यपि त्रातुं क्षमं उभावपि । पुनश्च पतितोऽप्युत्पतत्येव कल्याणकृत्कन्दुको यथा ।

(अनतिदूरे भूमिपतितो विश्वामित्रो दुःखेनोत्थानं नाटयति । उत्थाय च)

विश्वामित्रः - कं लक्ष्यीकरोत्यस्य वचः ।

अरुन्धती - दिष्ट्या जीवामि । भीताऽऽसमन्धकारे चीत्कारं श्रुत्वा कदाचिज्जह्नोराश्रममिव मे सौभाग्याश्रममप्यघौघो हारयेत् ।

वसिष्ठः - अघं निरस्तम् । उदितं च तपः ।

अरुन्धती - *(वसिष्ठमन्यदिशमवलोकयन्तं दृष्ट्वा -)* कं कथयति भवान् ।

वसिष्ठः - ननु तमेकमेवाद्वितीयं येन दीर्घतपसां फलमप्यन्यहेतवे विसृष्टम् ।

अरुन्धती - अच्छलं वक्तुमर्हसि ।

वसिष्ठः - अच्छलमेव मे वचः । विश्वामित्रादृते कोऽन्यः

स्वपुरुषार्थं पररक्षायै परिहीयेत ।

विश्वामित्रः - अपि स्वप्ने श्रुणोमि । कीदृशीयममृतधारा मरुस्थलाकाशात् ।

अरुन्धती - तथाऽपि -

वसिष्ठः - नात्र तथापीत्यवकाशः । अचिरेणैव द्रक्ष्यसि मानमेरुमपि लङ्घयित्वा स भास्यति भगवान्भास्कर इव भूरिभर्गसा ।

विश्वामित्रः - (*आनन्दविह्वलः*) कर्णौ मे भूयः पातुमिच्छतः पीयूष-वचनमिदम् ।

अरुन्धती - कथं विश्वसेयम् ।

वसिष्ठः - त्वमपि कथं प्राकृतनारीव विस्मृत्यात्मनोऽतीतं परछिद्रान्वेषिणी मक्षिका भवसि ।

अरुन्धती - कथमद्य ब्रह्मर्षिर्गान्धर्वविवाहपक्षपाती ।

वसिष्ठः - हेतुरेव लक्षितव्यो न स्थूलकर्म ।

अरुन्थती - न केवलं प्राकृता नीतिनिपुणा अपि निन्दन्ति वीर्यक्षयम् ।

वसिष्ठः - अब्रह्मण्यमब्रह्मण्यम् ।

स कामजेता न हि रूपक्रीतो
दयार्द्रचेताः शिववद्द्वितीयः ।
कान्तामनादृत्य सुदीर्घकालं
बालां रिरक्षुरजुहोत्तपः स्वकम् ।।२२।।

पुनश्च सवितृसाक्ष्यमेतयोर्विवाहमङ्गलम् ।

विश्वामित्रः - (*सकुठारमेवाभिधावति ।*)

बटुद्वयम् - (*वृक्षान्तराद् बहिरागत्य* -) आः मृतो वसिष्ठः ।

विश्वामित्रः - न न । मृतो विश्वामित्रः । (*कुठारं न्यस्य वसिष्ठपादयोः पतति ।*) महात्मन् क्षमस्व मूढस्य मेऽद्यतनद्वेषभाव-मजानतो महिमानं तवेदम् ।

वसिष्ठः - (*पादौ संहर्तुं यतते ।*) मैवं लज्जयस्व माम् ।

विश्वामित्रः - (*दृढं गृहीत्वा पादौ*) शरणं क्रन्दामि ।

वसिष्ठः - (*तमुत्थापयन्* -) उत्तिष्ठ ब्रह्मर्षे, उत्तिष्ठ । परिष्वज्याङ्गं ब्रह्मर्षे मां विनोदय । दिष्ट्या जातं स्वतः पूर्णं सप्तर्षिमण्डलं त्वया ।

विश्वामित्रः - पापोऽहं पापकर्माऽहम् ब्राह्मणत्वं न पारये ।

वसिष्ठः - नम्रत्वेन त्वनेनैव प्रमाणिता सुयोग्यता ।

अरुन्धती - (*विश्वामित्रं प्रति* -) कुतोऽत्रभवान्प्रवृद्धायां रात्रावस्मिन्प्रदेशे ।

विश्वामित्रः - पापोऽहं पापकर्माऽहम् ।

अरुन्धती - (*विश्वामित्रं प्रति*) उत्तरं दातुमर्हति ।

विश्वामित्रः - जिह्रेमि खल्वात्मनः पापं प्रकटयितुम् । तथाऽपि भगवत्यादेशं शिरसि करोमि । श्रुणुतां भवन्तौ । मेनकोद्वाहे मे तपोभङ्गं पश्यता महेन्द्रेण मोहेन पञ्चरात्रमहोत्सवः कल्पितः । मम पराजयश्च वसिष्ठमन्त्रेण कारितः इति रम्भावचनं श्रुत्वा सुमहान् क्षुब्धोऽहं ब्रह्मर्षिं हन्तुमुद्यत एवात्रागतोऽस्मि । पुण्यकर्मणि पापं पश्यमानाः शापिता भवन्ति ।

वसिष्ठः - यदि रम्भावचनमच्छलं तर्हि महेन्द्र एव पापभाङ्न भवान् ।

विश्वामित्रः - अनुगृहीतोऽस्मि । (*किञ्चिदवष्टभ्य*) अथाहमपि प्रष्टुकामः किञ्चित् ।

अरुन्धती - निःसंकोचं पृछ्यताम् ।

विश्वामित्रः - (*वसिष्ठं प्रति*) कथमजानादत्रभवानस्मद्विवाहरहस्यम् ।

वसिष्ठः - गतायां रात्रौ मेनकारक्षायै सचिन्तेन योगयुक्तेन मया बहु दृष्टं बहु श्रुतम् । रागद्वेषवियुक्तो जन आत्मवत्सर्वभूतेषु पश्यन् करुणारसितचेतसा परेषां मनोव्यापारानपि हस्तामलकव-दीक्षते ।

विश्वामित्रः - समदृष्टिविरहितो मन्दोऽहं ब्रह्मर्षिपदप्रणयी गमिष्याम्यु-पहास्यताम् ।

वसिष्ठः - मैवम् । अद्यपर्यन्तं ते तपःकठोरमपि पृथग्भावमहंकारपूर्वकं रजोगुणप्रेरितं स्वार्थसिद्धये चासीत् । अधुना तु परार्थे परमलक्ष्यमपि जुह्वता त्वैकपदेन पृथक्त्वं लघुत्वञ्च लङ्घयित्वा सुलभं भावितं ब्रह्मभावनम् । तस्मादचिरेणैव ब्रह्मर्षिपदाभिषिक्तो भविष्यसि ।

विश्वामित्रः - स्वदोषमनभिज्ञतया मया सदैव निन्दितो भवान् । तन्नार्हये ब्रह्मर्षिपदम् । न च स्वीकरिष्ये पदं विनाधिकारम् ।

अरुन्धती - परिवर्तितं तत्सर्वमधुना । तदलमात्मनिन्दातिरेकेण ।

विश्वामित्रः - भवति, जानामि स्वानुभवप्रमाणेन यद्विनाधिकारं

लिप्साऽपि फलमर्जयति कटु ।

नभोवाणी – गायत्रीमन्त्रदर्शनेन पूतस्त आत्मा ।
न हि कर्माणि लिम्पन्ति जनं बुद्धं कदाचन ।
गायत्रीमन्त्रदृष्टाऽसि ऋषे खेदं परित्यज ।।२३।।

(सर्वे साश्चर्यं श्रुण्वन्ति ।)

विश्वामित्रः – किमुद्दिश्यैषा दिव्यवाक् ।

(नेपथ्ये 'नारायण नारायणे'ति श्रूयते ।)

वसिष्ठः – अयमायाति देवर्षिः । तमेव पृच्छामहे ।

(क्षणाच्च नारदः प्रविशति ।)

नारदः – (*प्रविश्य*) अहो धन्योऽस्मि यत्साक्षीभूतोऽस्म्यहमस्य पुण्यदर्शनस्य ।
त्रयश्चन्द्रा विभान्त्यत्र युगपत्कृपया हरेः ।

अरुन्धती – भगवन्नश्रुणोः किं नभोवाणीम् ।

नारदः – अथ किम् ।

अरुन्थती – किमुद्दिश्य प्रादुर्भूता ।

नारदः – मेनासंभवो मेनापतय एव सम्भवति ।

विश्वामित्रः – को गायत्रीमन्त्रः कश्चमन्त्रदृष्टा ।

नारदः – कावन्यौ भवितुमर्हतः । येन त्वयाऽऽहूतं 'तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गः' स एव गायत्री मन्त्रः । मन्त्रद्रष्टा च स्वयमृषिर्विश्वामित्रः ।

विश्वामित्रः – ममाऽह्वानं तु संतप्तहृदयसमुद्भूता सहजा वाणी ।

नारदः – सहजसमुद्भूता वागेव मन्त्रो भवितुमर्हति ।

अरुन्धती – किं तदाह्वाहनम् ।

नारदः – 'ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात्' ।। इति । (*पूर्ववत्*)
देवैस्तस्मै गायत्रीत्यभिधानं दत्तं यतो गायन्तं त्रायते स मन्त्रो यथाऽत्रायत स्वयं विश्वामित्रम् ।

अरुन्धती – ततस्त्वधिकमभिनन्दनीयो राजर्षिः ।

नारदः – तेन च पञ्चभी ऋषिभिरभिनन्दितो वसिष्ठप्रस्तावः सप्तमब्रह्मर्षि–पदविषयकः ।

विश्वामित्रः – गहना कर्मणां गतिः ।

नारदः – स्वयं नारायणः सह लक्ष्म्या पञ्चभी ऋषिभिश्च समागच्छत्यत्र

देवैर्योजितस्य पञ्चरात्रमहोत्सवस्य प्रारम्भो विश्वामित्राभिनन्दन–समारम्भेण भवत्विति ।

विश्वामित्रः - उज्झितमन्तिमं मानपटलम् । विना कारणं महेन्द्र–चेष्टा शङ्किता । अविज्ञेया तु दैवगतिः ।

अरुन्धती - तदानीं तु तीर्थभूतोऽयमाश्रमः ।

विश्वामित्रः - तथाऽपि विना मेनकां न स्वीकरिष्ये बहुमानम् ।

वसिष्ठः - अविनाभावेन संयुक्ता साऽप्यभिनन्दनीया ।

अरुन्धती - इयं खलु सुखवार्ता तस्यै निवेद्य निमन्त्रयामि ।

(*तत्क्षणमेव प्रविशति मेनकोद्भ्रान्तेव ।*)

मेनका - हे कुशिकनन्दन, कुत्राऽसि । हे मेनकासर्वस्व, दुःस्वप्ने त्वामपश्यं कुठारहस्तं वसिष्ठाश्रमं प्रविशन्तम् । तवानुपस्थितौ च दुष्टदस्युराजः पुनरपि मां घर्षयितुमिच्छति । आवां वियोजयितु–कामेन केनापि दुष्टसत्त्वेन वञ्चितस्त्वं मम सकाशाद्दूरमपहृतः ।

अरुन्धती - समाश्वसिहि, समाश्वसिहि बाले । यौ सविता समा–योजयत्तौ वियोजयितुं कः समर्थः ।

मेनका - (साश्चर्यम्) केयममृतवर्षा ।

विश्वामित्रः - (*पुर आगत्य -*) समाश्वसितु देवी । युगयुगान्तरेष्वपि स्मर्तव्यावावामवियोजितौ जनैः ।

(*विश्वामित्रं दृष्ट्वा मेनका धावन्ती तस्य पादयोः पतति । तावदेव प्रविशतः स्वयं भगवन्तौ लक्ष्मीनारायणौ पञ्चभी ऋषिभिर्महेन्द्रेण चानुगम्यमानौ । सर्वेऽभिनन्दन्ति मेनकाविश्वामित्रौ । क्षणान्तरे प्रविशति गायन्तीनामप्सरसां समुदायो नारायणादीन् दृष्ट्वा सनमस्कारं पार्श्वे तिष्ठति ।*)

नारायणः - (*विश्वामित्रमुद्दिश्य*) यस्त्वमनन्यलक्ष्यसिद्धये स्वकृतानां दीर्घतपसां फलमपि करुणाप्रेरितः सन्परहितायाजहाः, यतश्च तद्धेतोः कामक्रोधमानमपि त्यक्त्वा सवितृशरणं गन्तुकामश्च छन्दसां मातरं गायत्रीमाविरकरोस्तेनाच्छलेन चेतसा यतमानः कर्मयोगेन ब्राह्मीं स्थितिं प्राप्तवानसि, अतोऽरुन्धतीसहितेन षड्ऋषिमण्डलेनानुमोदितो महेन्द्रादिदेवगणैश्चानुमतोऽहं त्वामद्य ब्रह्मर्षिपदे स्थापयामि । धर्मप्रेरणायै च लोकानां युगे युगे

।। सप्तमं दृश्यम् ।।

स्वद्रष्टान्तेन ध्रुवप्रदक्षिणाकारेषु सप्ततारकेषु सप्तमतारके 'विश्वामित्र' इत्यभिधानं प्रयच्छामि । येन पूर्णं स्यात्सप्तर्षिमण्डलम् ।

अप्सरोगणः – जयतु सप्तर्षिमण्डलम् । जयतां मेनकाविश्वामित्रौ जयन्तु च सलक्ष्मीनारायणाः सकला देवगणाः ।

नारदः – नारायण, नारायण । विस्मारितोऽहं केवलो नारीवृन्दैः ।

नारायणः – (*विहस्य*) सर्वे तं परादुर्योऽन्यत्रात्मानं सर्वान् वेद । रक्षितं च ते ब्रह्मचर्यम् ।

वसिष्ठः – पुनश्च नारदनारायणयोरभेदेन 'नार'शब्देन प्रकटितेन त्वमपि विजयी सदा ।

मेनका – भगवन् – (*इत्यर्धोक्ते लज्जमाना मौनं भजति ।*)

नारायणः – किं कांक्षति मनस्विनी मेनका ।

अरुन्धती – यत्सर्वाः स्त्रियः कांक्षन्ति ।

महेन्द्रः – अर्थात् –

अरुन्धती – कुलतारकां सन्ततिम् ।

नारायणः – अस्याः सन्ततिर्न केवलं कुलं वसुधामपि तारयिष्यति ।

मेनका – तदानीं तु सफलं मे जन्म सफलं मे तपः सफलं मे विवाहमङ्गलम् ।

अप्सरसः – (*सनृत्यम्*)

लब्धं गाधिसुतेन येन तपसा ब्रह्मर्षिसख्यं पदं
प्राप्तं यत्तपसा पदं ध्रुवसमं सप्तर्षिभिस्तैजसम् ।
यत्तप्त्वाऽलभताप्सरा मुनिवरं तौ चोत्तमां सन्ततिं
पायात्तत्तप उल्लसत्सुमनसः कुर्यात्सदा मङ्गलम् ।।२४।।

विश्वामित्रो मेनका सप्तर्षयश्च – (*नारायणं नमस्कृत्य*)

यो देवः सवितास्माकं धियो धर्मे युगे युगे ।
प्रेरयेत्तस्य तद्भर्गः सद्वरेण्यमुपास्महे ।।२५।।

(*पटपरिवर्तनम् ।*)

।। इति सप्तमं श्यम् ।।

।। समाप्तमिदं पूर्णं सप्तर्षिमण्डलं नाटकम् ।।

।। तृतीयं नाटकम् ।।

।। महावीरनिर्वाणम् ।।

(१३६-१८६)

।। महावीरनिर्वाणम् ।।

।। प्रथमं श्यम् ।।

[*पार्श्र्वनाथमन्दिरोद्यानम् । पृष्ठे मन्दिरद्वारं तस्याग्रे च प्राङ्गणं दृश्यते । प्रभातकिरणैः प्रोज्ज्वालित उद्याने शिलासनस्थो बटुरेको ध्याननिमीलितनेत्रपटलः प्रातःस्तवनं करोति ।*]

ॐकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नमः ।।१।।
पार्श्र्वनाथः स्थितः पार्श्र्वे संरक्षन्भक्तमण्डलम् ।
पापनाशाय संस्मृत्य महेशाय नमो नमः ।।२।।
नमताममरनादीनां कल्पवृक्षं कलाधराम् ।
नेमिनाथं नमस्कृत्य निर्ग्रन्थाय नमो नमः ।।३।।

(*अनन्तरं केनाऽपि प्रक्षिप्तः कन्दुको बटोः शिलासनेन रुद्धगतिस्तत्रैव तिष्ठति । क्षणाच्च प्रविश्य बाल एकः कन्दुकं गृह्णाति । तस्मिन्नेव क्षणे द्वितीयो बालः प्रविश्य* -)

द्वितीयः - देहि मे कन्दुकम् । (*हठाद् ग्रहीतुमिच्छति ।*)

प्रथमः - नाहं दास्ये । मम पादे लग्नः ।

द्वितीयः - भृशं खञ्जितोऽसि ।

(*ध्यानस्थो बालो नेत्र उन्मील्य सस्मितं पश्यत्येतयोः कलहम् ।*)

प्रथमः - एवमेतत् । पश्य । (*पादं दर्शयति ।*)

द्वितीयः - भो गोशालक, मा त्वं चापलं कुरु । नो चेत् -

गोशालकः - नो चेत् किम् ।

द्वितीयः - ताडयिष्ये त्वाम् ।

गोशालकः - भो काश्यप, जानामि ते बलम् । मारय, यदि ते शक्तिरस्ति ।

काश्यपः - अये गोशालक, मा अतितरलो भव । जानासि किं दुर्योधनोऽहम् ।

गोशालकः - यदि त्वं दुर्योधनस्तर्हि भीमो भीमसेनोऽहम् ।

काश्यपः - यदि त्वं भीमोऽहमस्मि जनार्दनः ।

गोशालकः - अहं तदानीमृषभस्तु देवः ।

काश्यपः - चक्रं मे करं ते छेत्स्यति ।

।। प्रथमं श्यम् ।।

गोशालकः - गदा मे ते शिरः ।

(*सहसा नेपथ्ये 'पलायध्वं पलायध्वम्' इत्युद्घोषः । क्षणाच्च त्रिचतुराः कुमाराः सकन्दुकक्रीडासम्भाराः धावमानाः प्रविशन्ति दक्षिणेन । उद्घोषश्रवणेन सममेव कलहायमानौ द्वावपि बटू स्वं स्वं वीरभावं परित्यज्य पलायितुमारभेते । शिलासनस्थो बटुः स्वस्थानादवतीर्य धीरगत्योपसृत्य कुमारान्प्रति* -)

बटुः - तिष्ठत, तिष्ठत । कथं पलायध्वे । (*द्वौ तिष्ठतः । अन्ये पलायन्ते ।*)

प्रथमः - (*सभयम्*) स ... सः ... सर्पः ।

बटुः - कोऽयं नूतनः खेलः । सस-सर्प इति । (*हसति।*)

द्वितीयः - नाऽयं खेलः । महाकायो महाकालोऽसौ ।

बटुः - ततः किम् । वीराः कालान्न बिभ्यति । पुनश्च कः पलायितुं क्षमः कालात् ।

प्रथमः - वर्धमान, नाऽयं वार्ताविनोदो वाग्विलासो वा । तत्र पिप्पलीवृक्षे दृष्टोऽस्माभिः सुमहान् सर्पो येन भीता वयं पलायामहे । त्वमपि जीवरक्षायै अपसर द्रुतम् ।

वर्धमानः - नाऽहमपसर्पामि । उपसर्पाम्येव महाकालदर्शनाय ।

प्रथमः - जानीमहे सुमहान् वीरोऽसि । परं -

द्वितीयः - मा त्वं मृत्युना क्रीडस्व ।

प्रथमः - भ्रामितोऽसि यमेन । (*रोद्धुं गृह्णाति भुजम् ।*)

वर्धमानः - त्वमेव भ्रान्तः । यतो यमो कमपि न भ्राम्यति । स तु भ्रमन्तमपि निश्चलं करोति । (*कुमारकरं धूत्कृत्य निष्क्रामति । द्वावपि भीतभीतावेव वर्धमानानुसारं दृष्ट्वा विविधा भयचेष्टा कुर्वन्तौ तिष्ठतः ।*)

द्वितीयो बटुः - गत एव सः ।

प्रथमः - अये, सत्यमेव वृक्षमुपसर्पति । तत्पलायावहे । (*इति पलायितः ।*)

प्रथमः - (*पुनरेत्य*) किं करोति वर्धमानः ।

द्वितीयः - (*स्तब्ध इव*) गृहीतोऽनेन दुष्टः सर्पः ।

(*तत्काले प्रलम्बमानं किञ्चिन्नेपथ्यात्पतति सशब्दम् । तेन भीतौ द्वावपि*

सचीत्कारं पलायितौ । अनन्तरं प्रविशति वर्धमानः । पतितं सर्पमुपसृत्य दृष्ट्वा च ।)

वर्धमानः - अये मरणासन्नः स प्राणान्तमिव श्वसिति । (*सर्प एकवारमुत्पत्य निश्चलो भवति ।*) मृतः स जाल्मः ।

(*क्षणान्तरे चीत्कारशब्दाकृष्टा द्वित्रा जनाः प्रविशन्ति वामतः ।*)

प्रथमः - (*वर्धमानमुपसृत्य*) कोऽयं चीत्कारशब्दः ।

वर्धमानः - सर्पभीताः कुमाराः सचीत्कारं पलायन्ते ।

द्वितीयः - कुत्र स सर्पः ।

वर्धमानः - (*साङ्गुलिनिर्देशम्*) अत्र स मृतस्तिष्ठति ।

(*गोशालकादयः केचित्कुमारा प्रत्यागच्छन्ति ।*)

तृतीयो जनः - कथं ज्ञायते स मृत इति ।

वर्धमानः - अत्रागत्य स्वयमेव पश्यतु भवान् । निश्चेष्टः स शिथिलाङ्गस्तिष्ठति ।

द्वितीयः - यदि मूर्छितः स्यात् ।

वर्धमानः - तथाऽपि न भेतव्यम् । नाऽयं विषधरः ।

कुमाराः - मा यूयमुपसर्पत । मूर्खो हि वर्धमानः । भयङ्करो विषमयः स भुजङ्गः ।

वर्धमानः - (*सहास्यम्*)

रज्जुरपि भुजङ्गः स्याद् भयविह्वलचेतसाम् ।
सर्पस्तथैव रज्जुः स्यादभयं चरतां नृणाम् ।।४।।

प्रथमः - (*नेपथ्याभिमुखं दृष्ट्वा*) अये समागच्छति महाराजो महाश्रमण-देवभूतिना सह ।

(*ततः प्रविशति ससम्भ्रमं महाराजः सिद्धार्थो महाश्रमणो देवभूतिश्च ।*)

सर्वे - जयतु जयतु महाराजः ।

महाराजः - (*उपसृत्य*) कुत्र मे वर्धमानः । अपि कुशलः सः ।

वर्धमानः - (*पितरमुपसृत्य नमस्कृत्य च*) पित्राशिषा कुशलोऽस्मि । किमिव चिन्ताकारणम् ।

महाराजः - विज्ञापितोऽहं नन्दिवर्धनादिभिर्बटुभिर्यद् 'दष्टो वर्धमानः कालसर्पेण' इति ।

वर्धमानः - (*विहस्य*) भयविह्वला जना बिडालमपि व्याघ्रं मन्यन्ते ।

जनानामेकतमः – देव, नष्टः स कालसर्पः ।

वर्धमानः – अमृते सत्यपि नायं सर्पो भयंकरः ।

गोशालकः – (*अग्रे भूत्वा*) कथं ज्ञायते ।

महाराजः – अयं महाश्रमणो निर्णेष्यति सर्पो निर्विषो भवति वा न वेति ।

महाश्रमणः – (*मृतसर्पमुपसृत्य निरीक्ष्य च*) सत्यं वदति वर्धमानो । नायं विषधरः ।

महाराजः – कथमजानाद्वर्धमानः ।

वर्धमानः – सम्यग्दर्शनमात्रेण । नास्ति कुण्डललाञ्छनं सर्पस्य शिरसि ।

महाश्रमणः – सम्यग्ज्ञातं त्वया ।

महाराजः – वत्स, बुद्धिमानसि, कृतविद्योऽसि, वीरोऽसि च । (*वर्धमानस्य शिरो हर्षोल्लासेन जिघ्रति ।*) परं कथं बुद्धियुक्तोऽपि त्वं दुःसाहसे प्रवृत्तोऽसि ।

वर्धमानः – केवलं प्रतिबोधितुमभयं भीतेभ्यो बटुकेभ्यः ।

गोशालकः – महाराज, किमपि प्रष्टुकामोऽस्मि ।

महाराजः – यथाकामं पृच्छ्यताम् ।

गोशालकः – अपि सर्पो जीवसृष्टिर्भवति वा न वा ।

महाराजः – निःशङ्कं जीवसृष्टिः ।

गोशालकः – अपि जीवहाने हिंसा भवति वा न वा ।

महाराजः – (*तस्याऽभिप्रायं ज्ञात्वा*) अस्मिन्विषये महाश्रमणः प्रमाणं न महाराजः ।

गोशालकः – आचार्य, किं जैनागमो 'अहिंसा परमो धर्म' इति नादिशति ।

महाश्रमणः – आगमादेशस्तु स्पष्टः ।

गोशालकः – तर्हि दण्ड्यो भवति वधकारकः ।

एको जनः – क्षत्रियाणां तु पशुघातादपि महत्तरं पापं पलायनम् । न जैनागम 'अशक्तिमान्भवेत्साधुरि'ति दिशति ।

गोशालकः – वर्धमानपक्षपातिन एते वृद्धाः । तदपसर्पामि ।

(*त्रयोऽपि कुमाराः सरोषं निष्क्रामन्ति ।*)

वर्धमानः – तात, सज्जोऽस्मि प्रायश्चित्ताय । आज्ञापयतु भवान्

कथं गलितदोषो भवेयम् ।

महाश्रमणः - तत्तु विचारयितव्यम् । सहसा विदधीत न क्रियाम् ।

महाराजः - भवतु । अपराह्णे ज्ञापयतु । अधुना तु कार्यान्तरं समापयितुं कर्तव्यं मया स्थानान्तरम् । (*इति निष्क्रान्तः ।*)

(*ऋते महाश्रमणवर्धमानाभ्यामन्ये राजानमनुसरन्ति ।*)

महाश्रमणः - (*आशीर्मुद्रां रचयित्वा*) वत्स, वीरोऽसि । महावीरो भव ।

वर्धमानः - (*प्रणम्य*) प्रयतिष्ये भवदाशिषा । आदिशतु मे सन्मार्गम्।

महाश्रमणः - सन्मार्गस्तु मनोविजयः केवलम् ।

जन्तूनां मनुजः श्रेष्ठस्तत्र श्रेष्ठो नराधिपः ।
कामक्रोधवशः सोऽपि महावीरो मनोजयः ।।५।।

वर्धमानः - अद्यप्रभृति यतिष्ये मनोजयाय ।

महाश्रमणः - तद्धेतवे तु पार्श्वनाथशरणमेव गन्तव्यम् ।

(*इति निष्क्रान्तौ ।*)

।। इति प्रथमं श्यम् ।।

।। द्वतीयं श्यम् ।।

[*राजप्रासादस्यान्तः कक्षः । अपराह्णसमयः । सचिन्तो महाराजः सिद्धार्थः सुखासनस्थः समीपे स्थितश्च वर्धमानः कुमारेण नन्दिवर्धनेन सह ।*]

महाराजः – वत्स, दुःसाहसं न कदाऽपि कर्तव्यम् । अविवेकः सर्वापदं पदम् ।

वर्धमानः – तात, कथितपूर्वमेव मया यद् भीतभीताञ्छशकानिव पलायमानान् ब्रह्मक्षत्रकुमारानभयं शिक्षितुमेव मया धृतः सर्पः । यतः –

क्षत्रियस्य गुणो वीर्यं ब्राह्मणस्य तपःक्षमा ।
वैश्यानां दानशीलत्वं शूद्राणामनुशासनम् ।।६।।

महाराजः – भयव्याकुलेषु ब्रह्मक्षत्रकुमारेषु को दोषः सर्पस्य ।

वर्धमानः – न कोऽपि ।

महाराजः – तत्कथं स दण्ड्यो भवेत् । न जानासि किं निरपराध–जन्तूनां घातो महापातकमिति ।

वर्धमानः – जातिरस्य दुष्टा । तया दूषितः सोऽपि वध्यो भवति ।

महाराजः – मैवम् । जातिमात्रेण न कोऽपि वध्यो वा पूज्यो वा । पश्य–

जन्मना सत्यकामस्तु दासीपुत्रोऽपि मन्त्रकृत् ।
जन्मना ब्राह्मणो भूत्वा रावणो राक्षसोऽभवत् ।।७।।

त्वया कृतदोषेण चिन्तितोऽस्मि ।

वर्धमानः – किं तस्य मार्जनम् ।

महाराजः – महाश्रमणो देवभूतिर्भगवान्भारद्वाजश्च समादेक्ष्यतः ।

वर्धमानः – वृद्धानामाज्ञां शिरो धारयिष्ये ।

महाराजः – वत्स, आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेदिति परमा नीतिः ।

वर्धमानः – सर्पस्य मृत्युवेदना मयाऽपि प्रत्यक्षीकृता । अद्यप्रभृति वर्तिष्ये सावधानेन पितृप्रसादाय ।

(ततः*प्रविशति प्रहिारी ।*)

प्रतिहारी – महाराज, श्रीमान् राजज्योतिष्युपस्थितः ।

महाराजः – प्रवेशय सबहुमानम् ।

प्रतिहारी – यदाज्ञापयति महाराजः । (इति गत्वा राजज्योतिषिणा

सह पुनः प्रविश्य -) इत इतोऽत्रभवान् । (राजज्योतिषी महाराजमुपसर्पति । प्रतिहारी निष्क्रान्ता ।)

राजज्योतिषी - विजयतां महाराजः ।

महाराजः - सुस्वागतम् भवते । भवत्साहाय्यमपेक्षतेऽत्र ।

राजज्योतिषी - कस्मिन्विषये ।

महाराजः - सुमहांश्चिन्तितोऽस्मि वर्धमानकृतदोषेण ।

राजज्योतिषी - नैतच्चिन्ताकारणम् । सर्वथा मङ्गलं विधास्यन्ति देवाः ।

महाराजः - कथममङ्गलकार्यस्य मङ्गलं परिणामः ।

राजज्योतिषी - यज्ञैः परितोषिता देवाः कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं क्षमाः ।

वर्धमानः - (*विहस्य*) के देवाः । भूदेवा वा स्वर्देवा वा ।

राजज्योतिषी - द्वावपि । मया गणितं ज्योतिषम् ।

नन्दिवर्धनः - किं गणितं भवता ।

राजज्योतिषी - सर्पो हि कालरूपः । तस्य मर्दनेन तव पुत्रः शाश्वतीं कीर्तिमवाप्स्यति ।

महाराजः - अपि चलति कर्मफलयोरविनाभावसम्बन्धो ज्योतिषा ।

राजज्योतिषी - स्यात्कदाचिद्यथा कृष्णगवां श्वेतं दुग्धम् ।

वर्धमानः - (*सस्मितम्*) महामतिः प्रमाणपटुश्च खलु ज्योतिषाचार्यः ।

राजज्योतिषी - ज्योतिःसङ्केतस्तु कथयत्येवमपि यत् त्रिभुवनकीर्तिः स महद्राजमण्डलस्य मूर्ध्नि स्थास्यति ।

नन्दिवर्धनः - वर्धमानो न राजा न युवराजोऽपि । मयि जीवति कनीयान्स कथं राजमण्डलस्य मूर्ध्नि स्थास्यति ।

राजजयोतिषी - भो नन्दिवर्धन, कथमिति न जाने । जानामि केवलमेतावदेव यज्ज्येष्ठाज्ज्येष्ठतरोऽयं कुमारो भविष्यतीति ग्रहादेशः ।

नन्दिवर्धनः - नाहं ज्योतिःशास्त्रे श्रद्धे ।

राजज्योतिषी - (*विहस्य*) अल्पवयसि सर्व एवं वदन्ति । पश्चिमे वयसि मन्दीभूते पुरुषार्थे परिपक्वे च संसारज्ञाने त एव दैववादिनो भवन्ति ।

वर्धमानः - नाहं राज्यासनोत्सुकः ।

।। द्वतीयं श्यम् ।।

प्रतिहारी - (*प्रविश्य प्रणम्य च*) राजन्, भगवान्भारद्वाजो द्वारि तिष्ठति प्रवेशं च प्रार्थयति ।

महाराजः - तत्कथं विलम्ब्यते । आदिष्टमेव पूर्वं मया यच्छ्रमणा ब्राह्मणा वा न रोद्धव्या अन्तःखण्डप्रवेशेऽपि ।

प्रतिहारी - यदाज्ञापयति देवः । (*इति गत्वा भारद्वाहेन सह पुनः प्रविश्य* -) इत इतोऽत्रभवान् । (*भारद्वाजो महाराजमुपसर्पति । प्रतिहारी निष्प्रान्ता ।*)

भारद्वाजः - जयतु जयतु देवः ।

महाराजः - (*आसनादुत्थाय प्रणम्य च*) भगवन् अभिवादये ।

भारद्वाजः - (*आशीर्मुद्रां रचयित्वा*) कल्याणमस्तु । (*वर्धमानोऽप्युपसृत्य प्रणमति । तं प्रति* -) लोकपूज्यो राजमण्डलार्चितो भव ।

नन्दिवर्धनः - अधुना त्वपूज्यः स राजदण्ड्यो वर्तते ।

भारद्वाजः - (*ससंभ्रमम्*) कथं कथमिव ।

नन्दिवर्धनः - हतस्तेन निरागसो नागः ।

भारद्वाजः - नागश्च निरागसश्चेति वदतोव्याघातः ।

महाराजः - कथं चिरायते भगवान् महाश्रमणः ।

(*ततः प्रतिहार्या पुरस्कृतः प्रविशति महाश्रमणो देवभूतिः । प्रतिहारी निष्क्रान्ता ।*)

महाश्रमणः - देव, उपस्थितोऽस्मि यथाऽऽदिष्टो भवद्भिः । (*सर्वे तमभिवादयन्ति ।*)

महाराजः - (*तं च भारद्वाजं च राज्यासन उपवेश्य कृताञ्जलिः पार्श्वे स्थित्वा*) अपि कृतः प्रायश्चित्तविषये कश्चिन्निर्णयः ।

नन्दिवर्धनः - गुरो, अत्रभवान् भारद्वाजो भणति सर्पघातो न दोषः।

महाश्रमणः - केन कारणेन ।

भारद्वाजः - धर्मदृष्ट्या सर्पयज्ञो शास्त्रविहितः । परमार्थदृष्ट्या 'एक एवाद्वितीये सति ब्रह्मणि कः केन हन्यात् । स्वप्नमयोऽयं संसारः । स्वप्ने कृतं दानमिव स्वप्ने कृतो घातो मिथ्यैव । न स प्रायश्चित्तमपेक्षते ।

नन्दीवर्धनः - एवं सति पितृमात्राचार्यहत्याऽपि विहिता स्यात् ।

भारद्वाजः - हुम् । यदि धर्मार्थकृता स्याद्यथा भगवता परशुरामेण

कृता मातृहत्या वा धृष्टद्युम्नेन कृताचार्यहत्या वा ।

महाश्रमणः - वेदमार्गिणामहिंसाया अपि शास्त्राज्ञा बलवत्तरा ।

भारद्वाजः - यतश्चोदनालक्षणो धर्ममात्रः । जैना अप्यादिनाथवचनं प्रमाणं कुर्वन्ति ।

महाश्रमणः - बाढम् । तदनुसारं हिंसायाः परं पापं नास्ति यतो हिंसा कर्मानुबन्धं हठान्नाशयति । तथाऽपि पूर्वसूरिणः पर-नयज्ञानयोर्विवेकमकुर्वन्त ।

महाराजः - किं परं ज्ञानं कश्च नयः ।

महाश्रमणः - 'अहिंसा परमो धर्म' इति परं ज्ञानम् । स्थलकालसंयोगाधीनं तस्याचरणमिति नयः । कुमारस्य सर्पहननं निर्दोषजीवघातरूपेण महदपि बाल्यभावेन क्षात्रधर्मप्रबोधनहेतुकञ्चेति स्वल्पमिति मन्ये ।

महाराजः - ततस्तत्संमार्जने को विधिः ।

महाश्रमणः - येन पुनरपि मनःप्रसादः स्यात्स एव विधिः ।

वर्धमानः - अस्ति कश्चिदुपायो येन दोषसंभावनाऽपि नश्येत् ।

भारद्वाजः - भगवान् योगाचार्यो भणति चित्तवृत्तिनिरोधेन समाधौ तिष्ठति मनः । समाधिस्थस्य च जनस्य न पापपुण्यसंभावना ।

महाश्रमणः - कैवल्येन दोषसंभावनाऽपि नश्यतीत्यादिनाथः ।

महाराजः - तिष्ठत्वेषा चर्चाऽत्रैव । चित्तप्रसादविधिर्दिश्यताम् ।

महाश्रमणः - देव, वर्धमानस्य चित्तं प्रसन्नमेव । तन्न तत्कृच्छ्रं प्रायश्चित्तं कांक्षति । तथाऽपि जिनेश्वरोपदिष्टाहिंसाधर्मरक्षायै दिनस्यैकस्य प्रायोपवेशनमुचितं स्यात् ।

(*नन्दिवर्धनो नैराश्यं नाटयति ।*)

वर्धमानः - श्रृण्वन्तु पूज्यपादाः । गुरुणां विवादं श्रुत्वा द्वौ संकल्पौ कृतौ मया ।

महाराजः - (*सचिन्तम्*) किंरूपौ ।

वर्धमानः - सद्धर्मज्ञानार्थमामूलवेदाध्ययनमिति प्रथमः सङ्कल्पः ।

भारद्वाजः - साधु, कुमार, साधु । विना वेदाध्ययनं न ज्ञायते सनातन-धर्मतत्त्वम् ।

महाराजः - अथ द्वितीयः ।

वर्धमानः - सर्पघातकृतदोषस्य परिमार्जनार्थमष्टाह्ननिराहारः ।

नन्दिवर्धनः - निराहारस्तु निर्जलत्वमप्यपेक्षते ।

वर्धमानः – तथास्तु ।

महाराजः – (*स्वगतम्*) नन्देः कोऽयं द्वेषभावो कनीयसि ।

(*प्रकाशम्*) वत्स, बाल्ये दुष्करव्रतसङ्कल्पो न योग्यः ।

वर्धमानः – धर्मार्थिं दुष्करमपि सुकरं भविष्यति मे गुरूणामाशीर्भिः ।

महाश्रमणः – अभिनन्दनीयास्ति ते धर्मपक्षता ।

(*नेपथ्ये सान्ध्याघण्टारवः श्रूयते ।*)

भारद्वाजः – अहो, सन्ध्यासूचको घण्टारवः । तत्स्वधर्मे युज्यामहे ।

(*इत्यासनादुत्तिष्ठति ।*)

महाराजः – बाढम् । अनुजानन्तु भवन्तः सभाविसर्जनाय ।

भारद्वाजः – तथा ।

(*निष्क्रान्ताः सर्वे ।*)

।। इति द्वितीयं श्यम् ।।

।। तृतीयं श्यम् ।।

[*जिनालयोद्यानम् । त्रिचतुराः पौरजनाः शिलातलमध्यास्य संवदन्त्यपराह्णसमये ।*]

प्रथमः - भोः कौशिक, अप्यश्रुणोर्ज्योतिषाचार्यस्य भविष्यकथनम् ।

कौशिकः - किमिव ।

प्रथमः - अयं गोशालक एव कथयिष्यति यतः स एव वार्ताहरः ।

गोशालकः - ज्योतिषाचार्यो मनुते यत्कनीयान् वर्धमानो राजराजेश्वरो भविष्यतीति ।

कौशिकः - वचनेषु का दरिद्रता । पुनश्च, अये वसिष्ठ, त्रयोदशवर्षीयस्य बालस्य वार्तायां कथं विश्वासः कर्तव्यः ।

द्वितीयः - प्रधानतो बटव एव वार्ताहराः सर्वत्र ।

वसिष्ठः - ज्योतिर्विद्यायां महापण्डितः स इति श्रुणुमः ।

तृतीयः - सत्यं वदति वसिष्ठः ।

कौशिकः - स्यात्कदाचित् । तथापि नाहं विश्वसिमि तस्य भाविकथने । ज्योतिर्विद्यासामुद्रिकविद्यादयः सर्वे सर्वथोदरपूरणप्रपञ्चाः केवलमिति मन्ये ।

गोशालकः - अहमपि तथैव कल्पये ।

वसिष्ठः - पूर्वग्रहपीडितौ द्वावपि युवाम् । गोशालकोऽयं नन्दिवर्धनपक्षकारः । कौशिकस्य दुःखं त्वयं नेमिनाथो वर्णयिष्यति ।

नेमिनाथः - भो वसिष्ठ, कथं कारणं विना मां विवादे क्षिपसि । त्वमेव वर्णय ।

वसिष्ठः - सामुद्रिकैर्द्विभार्यको भविष्यति द्विसंतानकश्चेति प्रतिज्ञापितोऽप्यद्यपर्यन्तं स्वयंपाकी । तेन दुःखेन दुःखितस्य तस्य हृदयं सकारणमेव शङ्कितमस्ति । (*हसति ।*) परमागामिन्यामाश्विनकृष्णचतुर्दश्यां कौशिकस्य निःशङ्कं पाणिग्रहणयोग इति मे निश्चितं मतम् । (*पुनर्हसति ।*)

नेमिनाथः - यदि विफलो भवति योगः ।

वसिष्ठः - (*व्याजगाम्भीर्येण*) अयं वसिष्ठः प्रतिजानाति यदि मदिराक्षीकाचित्तस्य न पाणिग्रहणं करोति तर्हि नगररक्षकस्त्ववश्यं ग्रहीष्यति पाणिं तस्य मदिराक्षविलासदोषार्थम् ।

।। तृतीयं श्यम् ।।

कौशिकः – (*सरोषम्*) अलं परिहासेन । न मे विवाहचिन्ता करणीया त्वया ।

वसिष्ठः – कथं न करणीयेति ।

उत्सवे व्यसने चैव विवाहे समराङ्गणे ।
राजद्वारे स्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः ।।८।।

कौशिकः – (*सक्रोधम्*) न त्वं बान्धवः अपि तु गवान्धवः । (*सर्वे उच्चैः हसन्ति ।*)

नेमिनाथः – न तस्य विवाहचिन्ता, मिष्टान्नचिन्ता तु केवलम् ।

गोशालकः – अहं तु कथितवानासं यदेष एव ज्योतिर्विद् 'नन्दिवर्धनः चिरं पृथिवीं शिक्ष्यती'ति ग्रहफलमदर्शयदेकवारम् ।

कौशिकः – ज्येष्ठे जीवति सति वर्धमानस्य राजत्वमसम्भवमिति मन्ये ।

नेमिनाथः – तिष्ठत्वयं विवादः । यतः यद् भावि न तदभावि भावि चेन्नान्यथा भवेत् । न च मे स्पृहा राजकार्यविवादाय ।

कौशिकः – नेमिनाथ, कथमेवं वदसि । राजा हि नियन्ता प्रजानां योगक्षेमस्य । तस्माद्राजकारणं सर्वेषां विषयो भवति । अस्माभिरुपेक्षितमपि न तदस्मान्मोक्ष्यति । परंपरानुसारेण नन्दिवर्धन एव राजा भवितुमर्हति ।

वसिष्ठः – वर्धमानो योग्यतरः । तस्य जन्मनः प्रभृति वर्धतेऽनवरतं राज्यश्रीः ।

कौशिकः – न जानासि तस्य जन्मकथा ।

नेमिनाथः – वर्धमानो न त्रिशालापुत्रः, अपि तु ब्राह्मणीदेवानन्दापुत्र इति कर्णोपकर्णं लोके ।

गोशालकः – न च तदलीकमिति मे मतिः ।

वसिष्ठः – तस्मादेव तवाभिधानं गोश्यालक इति कृतम् ।

नेमिनाथः – वसिष्ठो गवान्धवः, अयमपि गोश्यालक इति तौ सम्बन्धिनौ संजातौ । (*विना वसिष्ठगोशालकाभ्यामन्ये हसन्ति ।*)

वसिष्ठः – (*कौशिकं प्रति*) केनचिद्वर्धमानद्वेषिणा प्रवर्तितेयं कथा इति तर्कयामि ।

गोशालकः - अन्याऽपि रहस्यकथा वर्तते । जानन्ति किं भवन्तो यदस्माकमाचार्यो वर्धमानं सदैव 'ब्रह्मपुत्र' इत्यभिधानेन सम्बोधयति ।

कौशिकः - (*विस्फारितनेत्राभ्याम्*) आः - ।

वसिष्ठः - तपति भास्करे नेत्रे निमील्यान्धकारे मूषिकं मृग्यमाणस्त्वं कौशिक इति सार्थनामा ।

कौशिकः - स्यात्कदाचित् । अपि तु वाग्विषयेऽप्यसंयमी त्वं तु वृथा हि 'वसिष्ठ' इत्यभिधानं धारयसि ।

गोशालकः - राजज्योतिषिणा हि गर्भपरिवर्तनं कृतमासीदिति कथ्यते । आचार्यकृतं संबोधनं न निरर्थकमिति मे निश्चितं मतम् ।

वसिष्ठः - जडमते, न निरर्थकम् । अपि तु अन्यदर्थकम् । ब्रह्ममार्गिणः सर्वे ब्रह्मपुत्रा इति सुप्रसिद्धम् ।

नेमिनाथः - अप्रस्तुतमिदं सर्वम् । गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न जातिर्न वय इति नीतिविदां वचनम् ।

कौशिकः - न हि, न हि, नृपत्वं तु क्षत्रिय एवोपपद्यते । यतो वीरभोग्या वसुन्धरा ।

(*अन्यतमो जनः प्रविश्यैतेषां समीपं विवादं श्रुण्वंस्तिष्ठति ।*)

वसिष्ठः - तेन परीक्षणेन तु वर्धमान एव योग्यतरः । श्रुतमेव भवद्भिः सर्पग्रहणवृत्तम् ।

नेमिनाथः -

वीराः सर्वे कुरुक्षेत्रे प्रसुप्ताः साम्प्रतं किल ।
एते निस्तेजसः सर्वे स्मयमानाः समत्सराः ।।९।।

राजानो मूषकबिलमात्रेण राज्येन तुष्टा वणिज इव केवलं लक्ष्मीसंवर्धने लग्नाः ।

आगन्तुकः - सुष्ठु भणितं त्वया ।

नेमिनाथः - तथैव ब्राह्मणा ब्रह्मतेजोहीना यज्ञयागप्रबन्धैर्धनोपार्जने मग्नाः । धर्मसत्त्वस्य का कथा स्वरशुद्धिमपि न जानते । महोदरा मण्डूका इवार्थहीनानि मन्त्राक्षराणि रटरटायन्ते ।

कौशिकः - केचित्तु तत्राप्यनभिज्ञा देहदमनेन विरूपाङ्गैः प्राकृतजनान् प्रभावयन्ति ।

।। तृतीयं श्यम् ।।

नेमिनाथः - पृच्छामहे सत्यवादिनः कपिलस्य मतम् ।

कपिलः - मया पठितमस्ति कुत्रचित्सर्वेषु समाजेषु प्रथमं प्रदूष्यन्ति धर्माचार्या एव पश्चादितरे जनाः श्रेष्ठानुकारित्वात् ।

नेमिनाथः - तस्मादेव जिनशासनं वर्णमगणय्य कर्मणो महत्त्वं प्रतिपादयति ।

गोशालकः - (*सव्यंग्यम्*) तेनैव महाराजश्च ब्राह्मणीपुत्रमात्मजायादप्यधिकतरं मन्यते ।

वसिष्ठः - न केवलं महाराजो राजकुले बहवोऽन्येऽपि तं बहु मन्यन्ते ।

कौशिकः - राजेङ्गितैर्नृत्यन्ति ते स्वार्थसिद्धये ।

कपिलः - आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति । (*हसति ।*)

नेमिनाथः - तन्मुच्यतां कलहः । एष आगच्छति स ब्रह्मपुत्रः ।

(*ततः प्रविशति वर्धमानः पठन्नेव किञ्चित्पुस्तकम् ।*)

गोशालकः - मित्र वर्धमान, एहि अत्र ।

वर्धमानः - (*उपसृत्य*) किं ते प्रियं करवाणि ।

गोशालकः - न त्वं राजपुत्रोऽपितु ब्राह्मणीपुत्र इति जनापवादः ।

वर्धमानः - (*शान्तभावेन*) ततः किम् । मयापि श्रुतः स मिथ्याप्रलापः ।

गोशालकः - विवादं शमयितुं सत्यं प्रकटयितव्यम् ।

वर्धमानः - सहेतुकोऽयं विवादः । अथ कस्मिन्नपि कथ्यमाने स न रोत्स्यति । केवलं वर्धिष्यति । तस्मान्मौनमेव सर्वार्थसाधकम् ।

कौशिकः - सत्यं ज्ञातुमिच्छामः ।

वर्धमानः - (*क्षणं स्थिरदृष्ट्या कौशिकमुखमवलोक्य -*) को लाभः । पुनश्च मम जन्मकथायां नाहं प्रमाणम् । वृद्धाः प्रष्टव्याः ।

कपिलः - वृद्धास्तु कुटिलमतयः । स्वार्थानुरूपमेव प्रवदेयुः ।

वर्धमानः - (*सस्मितम्*) ततस्तु वैद्यो नारायणो हरिः । पुनश्च बहून्यन्यानि महासत्यानि ज्ञेयानि सन्ति ।

गोशालकः - तथाऽपि देवानन्दा - (*इत्यर्धोक्ते*)

वर्धमानः - (*दृढस्वरेण*) न तथाऽपि कथाऽपि किञ्चिदस्मिन्विषये । एताव-ज्जानीध्वम् । यदि देवानन्दा मे माता तर्हि देवैरा-नन्दितोऽस्मीति मन्ये । सद्ब्रह्मणा मे तथैव पूज्या यथा सच्छ्रमणाः ।

वसिष्ठः - अयं बटुर्वयसा लघुरपि बुद्ध्या गरीयान्, न जाले पतिष्यति ।

वर्धमानः - यादृशी भावना यस्य दृष्टिर्भवति तादृशी ।
सत्यं हित्वा यतो बुद्धिर्मिथ्यात्वमनुवर्तते ।।१०।।

कपिलः - किमिदं पुस्तकं ते वामहस्ते ।

वर्धमानः - एतत्तु व्याकरणम् । संप्रति हि समाप्तमध्ययनम् ।

वसिष्ठः - किं ते वयः ।

वर्धमानः - सप्तवर्षीयोऽहम् ।

कौशिकः - द्वादशवर्षैर्व्याकरणमधीयत इति श्रुणुमः ।

वर्धमानः - मया तु वर्षद्वयेणैवाधीतं सम्यग्रूपेण ।

नेमिनाथः - दिष्ट्या वर्धसे । तथापि त्वरितपठनस्य को हेतुः ।

वर्धमानः - सकलं वेदतत्त्वं ज्ञातुं समुत्सुकोऽस्मि ।

(नेपथ्ये सुमहान्घण्टारवः कोलाहलश्च श्रूयते । सर्वे चोत्थाय रवानुसार-मवलोकयन्ते ।)

वर्धमानः - अद्धा । कुत्र नीयन्ते सहस्रश एता गावः ।

कौशिकः - आगामिन्याममावास्यायां वैशाल्यां महारुद्रमहोत्सवो भविष्यति । तस्मिन्सहस्रगवामाहुतिर्दातव्या ।

वर्धमानः - अहह, कोऽयमनर्थो महान् ।

वसिष्ठः - दर्शनीया खलु शोभायात्रा । तद् गच्छामो द्रष्टुम् ।

(निष्क्रान्ताः सर्वे ऋते वर्धमानात् ।)

वर्धमानः - कः पुण्यलाभ एतावज्जीवहानेः ।

(दुःखतप्त इव मन्दं मन्दं विपरीतां दिशं गच्छति ।)

।। इति तृतीयं श्यम् ।।

।। चतुर्थं श्यम् ।।

[*राजप्रासादे अन्तःपुरस्य अलिन्दः । सुखासने वर्धमानः सचिन्तः उपविष्टः । चेट्यादिष्टमार्गः प्रविशति महाश्रमणः ।*]

महाश्रमणः - कुत्र वर्तते महाभागो वर्धमानः ।

चेटी - आसन्नप्रसवा यशोदा । तेन चिन्तितः सोऽत्रान्तःपुरद्वाराग्रे सुखासन उपविशति ।

महाश्रमणः - तावदुपसर्पामि ।

चेटी - इत इतो भवान् । (*वर्धमानमुपसर्पति ।*)

महाश्रमणः - अपि कुशलो वत्स वर्धमानः ।

(*वर्धमानो बधिर इव जड इव च तिष्ठन्न किमपि प्रत्युत्तरं ददाति । क्षणाच्चोत्थाय परिभ्रमणमारभते ।*)

चेटी - दयितादुःखदुःखितोऽशान्तो न कथमपि धैर्यमवलम्बाते ।

महाश्रमणः - भवतु । क्षणमत्रैव तिष्ठेयम् ।

चेटी - अनुजानातु भवान् देवीशुश्रूषायै ।

महाश्रमणः - यथेच्छं गच्छ ।

(*निष्क्रान्ता चेटी ।*)

वर्धमानः - (*परिभ्रमन्नेव स्वगतम्*) त्रिघटिका व्यतीताः समुत्कण्ठस्य प्रतीक्षमाणस्य मे । कतिकालं पलपलगणनातत्परोऽहं धैर्यधारणं करोमि । बिसतन्तुकोमला साऽप्येतावत्कष्टं सहितुमसमर्था प्राणान्विमुच्येत । नार्हयावहे विधातुः क्रीडनके भवितुमेवम् । (*दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य पुनरासनमध्यास्ते ।*)

महाश्रमणः - (*उपसृत्य वर्धमानस्य स्कन्धे हस्तमारोप्य*) क्षमामि सर्वाञ्जीवान् क्षमयन्तु मे सर्वे जीवाः ।

वर्धमानः - (*स्वप्नजागरित इव -*) गुरो, अभिवादये । क्षन्तव्यो मे प्रमादः ।

महाश्रमणः - भद्रं ते भवतु । कथमसुख इव लक्ष्यसे ।

वर्धमानः - आप्रभातं पीडिताऽस्ति यशोदा प्रसववेदनया । तद्दुःख-कारणोऽहं तस्याः पतिः कथं सुखं विन्देय ।

महाश्रमणः - धैर्यमवलम्बास्व । भगवान् पार्श्वनाथः सर्वथा कुशलं विधास्यति । प्रसववेदना तु स्वाभाविकी ।

वर्धमानः - धैर्यवतोऽपि मे धैर्यं विचलति कल्पनामात्रेण । का गतिरस्ति तस्याः प्रत्यक्षदुःखं सहमानायाः ।

महाश्रमणः - कदाचित्प्रत्यक्षानुभवो न तथा वेदनामयो यथा तस्य कल्पनम् ।

वर्धमानः - (*कटुस्मितेन*) महदपि परदुःखं सुसह्यं मन्यते जनः ।

महाश्रमणः - पुनश्च प्रारब्धमन्यथा कर्तुं कः क्षमः । कर्मबन्धनोऽयं सकलो जीवलोकः ।

(*सरभसं प्रविश्यत्येका चेटी जलपात्रहस्ता ।*)

वर्धमानः - (*सरभसं सोद्वेगमासनादुत्थाय*) कथं कथमिव किमुद्भूतम् ।

चेटी - न किमपि नवीनम् ।

वर्धमानः - अपि कुशलिनी मे प्रिया ।

चेटी - तथैवास्ते । (*निष्क्रान्ता ।*)

वर्धमानः - वारं वारं 'तथैवास्ते' इत्येकमनन्यं प्रत्युत्तरं श्रुत्वा विषादान्निर्भरत्वात्क्लैश्यमिवानुभवामि । यदि तस्या दुःखस्य सहभाग्यहमपि भूयासम् । निर्दया खलु नियतिर्बिडाली मूषकमिव खेलयति जन्तून् फलासक्तान् । (महाश्रमणाभिमुखो भूत्वा) भगवन् ।

महाश्रमणः - (*समीपं गत्वा*) समाश्वसिहि । क्षणेन सा वेदनामुक्ता भविष्यति ।

वर्धमानः - कथं ज्ञायते ।

महाश्रमणः - भावनया ।

वर्धमानः - किं तद्भावनम् ।

महाश्रमणः -

स्मृत्वा स्मृत्वाऽऽदिनाथं तं क्षणं भावय मङ्गलम् ।
मनोगुप्त्या हि माङ्गल्यं सिद्ध्यते नात्र संशयः ।।११।।

वर्धमानः - (*क्षणार्धं नेत्रे निमील्य मौनं भजते । सैव चेटी ससंभ्रमं प्रविशति । उपसर्पन्तं वर्धमानमुपेक्ष्य निष्क्रामति ।*) न हि, न हि । असहनीयैषा यन्त्राणा । पल्लवपेशलानि हृदयानि कथं विषहेरन् कठोरमिदं हिमसेकनिपातशैत्यं दैवस्य । यदि प्रारब्धं दैवकारणं तर्हि प्रारब्धनाशोपायोऽपि मार्गितव्यः । येन निखिलोऽयं जीवलोको मुच्यते दैवप्रतारणया ।

महाश्रमणः - सफलो भवतु मनोरथः । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

।। चतुर्थं श्यम् ।।

(*तत्क्षणं प्रविशत्यन्या चेटी त्वरायमाणा ।*)

चेटी - (*वर्धमानमुपसृत्य सहर्षोल्लासम् -*) वर्धतां कुमार वर्धमान । लक्ष्मीस्ते गृहे प्रादुर्भूता ।

वर्धमानः - कथं वर्तते देवी ।

चेटी - सुखेन स्वपिति ।

वर्धमानः - (*पुनर्जीवित इवानन्दविह्वलः*) सुमुखि किं प्रियं ते करवाणि ।

चेटी - देवकृपयैव संतुष्टोऽयं जनः ।

वर्धमानः - तथाऽपि मङ्गलवचना न रिक्तहस्ता निवर्तनीया । तद्-गृहाणैतद् । (*रत्नमालां यच्छति ।*)

चेटी - अनुगृहीताऽस्मि ।

वर्धमानः - एतदपि । एतदपि । (*इति शरीरस्थान् सर्वानलङ्कारा-नेकैकशोऽवतार्य ददाति । चेटी तु 'अलमलमि'ति वदन्ती हर्षनिर्भरोपकारवशा च सानन्दं रोदिति ।*)

महाश्रमणः - (*सस्मितम्*) अति सर्वत्र वर्जयेत् ।

वर्धमानः - (*साट्टहासम्*) संसारत्यागी कथं जानीयात्संसारिकानां हर्ष-शोकावेगान् । तीरस्थो न जानाति कल्लोलमालिकाभिहतस्य नाविकस्य सुखदुःखानि । मानससरो न पारयते ज्ञातुं सागरा-न्तःसंक्षोभम् ।

महाश्रमणः - संक्षुब्धचित्तस्य कुतः प्रसन्नता शाश्वतं सुखं वा सांसारिकसुखदुःखानि तु शुक्लकृष्णपक्षयोरिवावियुक्तभावेनान्योन्यं संक्रमन्ते । संयोगे सुखकरं यद्भवति वियोगे संतापकरं हि तद्वसन्त इव । तथाहि । संयोगे दुःखकरं हि यद्वियोगे सुखकरं भवति तत्प्रावृषान्धकारवत् ।

वर्धमानः - प्रकृत्या मनोवेगा महावेगास्तुरङ्गा इवोपेक्षन्ते निग्रहा-ङ्गितानि । (*चेटीं प्रति -*) भद्रे, समुत्सुकोऽस्मि दुहितृमुखदर्शनाय ।

चेटी - क्षणं तिष्ठतु कुमारः यावन्नारीवृन्दं सावधानं कृत्वा प्रवेशा-नुज्ञां प्राप्नुयाम् । (*इति अन्तर्द्वारेण निष्क्रान्ता ।*)

वर्धमानः - गुरो, पुत्रजन्मतोऽप्यधिकं नन्दामि दुहितृलाभेन । येन नन्दिवर्धनपक्षपातिनामसूयासमाधानं भविष्यति ।

महाश्रमणः - किंरूपामसूयामाशङ्कसे ।

वर्धमानः - भगवन्, जानामि सर्वं यद्दहसि पच्यते । येषामर्थे कांक्षितं भवति राज्यं वा सुखानि वा त एव विपक्षा भवन्तीति चित्रम् । परं न जानन्ति ते यच्चञ्चलराजलक्ष्म्याः कृते नोत्सहे महार्हं मे जीवनं विफलतां नेतुम् ।

(तत्क्षणमन्तःपुरद्वारमर्धमेवोद्घाट्य चेटी वर्धमानं इङ्गितैरेवान्तःपुरप्रवेशाय सूचयति । वर्धमानो द्वारमार्गेण निष्क्रामति ।)

महाश्रमणः - ऋजुहृदयमिमं कुमारमकारणमेव शङ्कते नन्दिवर्धनपक्षाः । पुत्रजन्मशङ्कया सद्योजातं बालकमपहर्तुं प्रपञ्चमानास्ते पुत्रीजन्म-वृत्तान्तेन समाधानमाप्नुयुः । तज्ज्ञापयामि तान् । (*इति निष्क्रान्तः ।)*

।। इति चतुर्थं श्यम् ।।

।। पञ्चमं श्यम् ।।

[*राजप्रासादस्यान्तःकक्षे शोकाकुलचेत उपविष्टो वर्धमानः । कियद्दूरे खेलति तस्य पञ्चवर्षदेशीया दुहिता प्रियदर्शना । वर्धमानोऽन्यमनस्क इव तामवलोकयति । क्षणादुत्थाय पर्यटति कक्षे ।*]

वर्धमानः – (*सनिःश्वासम्*)

गता प्रियतमा गता क्व नु गता न जानीमहे
दिशेत्कदापि हा पुनर्मिलनसंभवो वा न वा ।
विलम्बविरहव्यथं हृदयमग्निहोत्रीकृतं
क्वचिज्ज्वलति दारुणं क्वचित्परिधूमायते ।।१२।।

सत्यमकथयन्महाश्रमणास्तदानीं यत्क्षणभङ्गुरं विषयसुखम् । अहो नियतेर्विचित्रता ।

सुखं ददानं दिनमेकमेव यद् दुःखप्रदं तद्द्वितीये भवत्यहो ।
मिष्टान्नमिष्टं हि विरोगदेहे विषं भवेत्तन्नु मधुप्रमेहे ।।१३।।

यशोदाया उपस्थितौ ये ये विषयाः सुखप्रदा अभवंस्त एवाधुना तस्या वियोगे दुःखप्रदाः सञ्जाताः । यत्र यत्र मनो मे सज्जते तत्र तत्र प्रियतमायाः स्मृतिस्फुलिङ्गेन दग्धीभूय समसमायते । अपि जीवति सा सूक्ष्मदेहेन यथा पुर्नजन्मवादिनो प्रतिपादयन्ति अथवा नितान्तलुप्ता भवेद्यथा चार्वाको बोधयति न जाने । अपि परपीडनप्रियैर्यमदूतैर्बहुशः पीडिता कष्टात्कष्टतरं गताऽथवा देवदूतैः स्वर्गलोकं नीता नन्दनवनसुखान्यनुभवति न जाने । जानामि केवलं तस्या अवस्थाया अज्ञानेनाहर्निशं नरकयातनामनुभवामि ।

(*सहसा प्रियदर्शना क्रीडां परित्यज्य समीपमागत्य पितृकरं गृह्णान्ती वदति ।*)

प्रियदर्शना – (*अधीरभावेन*) तात, अद्याऽपि नागता मे प्रियजननी । तावदावामेव तस्याः समीपं गच्छावः । उत्तिष्ठ, अधुनैव गच्छावः । (*वर्धमानः सकरुणं पश्यन्त्यास्तस्याः शिरो जिघ्रन् मौनं भजते ।*) कथं चिरायसे । उत्तिष्ठ । मातुर्विना क्षणमपि न तिष्ठामि ।

वर्धमानः – वत्से, धैर्यमवलम्बस्व । श्वस्त्वागमिष्यत्येव ।

प्रियदर्शना – त्वं सर्वदैवं वदस्यलीकम् । यदि त्वं नागन्तुमिच्छसि

तदाहमेकाकिनी गच्छामि । कथय, कुत्रागच्छत्सा । मार्गं दर्शय ।

वर्धमानः - (*स्वगतम्*) हा दैव, कति दिनानि निर्व्याजहृदययाऽनया सहासत्यमाचरिष्ये । सत्यं त्वहमपि न जाने । तदा 'न कदापि निवर्तिष्यते ते माता' इत्येवं कथयित्वा तस्या मृणालकोमले हृदि कुठाराघातेनापि को लाभः स्यात् । ... पराभूतोऽस्मि विधिलीलया । सैव पुरुषप्रयत्नं वारं वारं विफलीकरोति । सकलगणनाऽऽयोजनाऽऽकांक्षाः सकलसाधनसमारम्भमपि परिहसन्ती कृतमप्यकृतं वाऽन्यथाकृतं वा करोति । कथं वशं नीयेत सा ।

(*बालामाकृष्य तस्या नेत्रयोः किमप्यन्वेष्टुकाम इव पश्यति निष्पलकः ।*)

प्रियदर्शना - तात, किं चिरायसे । सत्वरं प्रत्युत्तरं देहि ।

(*एका चेटी द्वारादीक्षमाणा प्रवेष्टुकामाऽपि स्वगतिं निरुध्य तिष्ठति ।*)

वर्धमानः - (*स्वगतम्*) किं प्रत्युत्तरं ददामि । न जानेऽहमपि कुत्र गता तव माता । अन्धोऽन्धमिव किमादिशामि ते । (*रोदिति ।*)

प्रियदर्शना - (*सकरुणम्*) कथं रोदिति तातः । मा रुदिहि । द्वाव-प्यावां गत्वा हठान्मातरमानेष्यावः ।

चेटी - (*सखेदं शिरो घूर्णायते । पश्चाद्बहिःस्था एव -*) वत्से, पश्य । केयं समागता ।

प्रियदर्शना - अपि मे माता स्यात् । (*तां प्रति गच्छति ।*)

(*चेटी बालां स्कन्धे कृत्वा बहिर्नयति ।*)

वर्धमानः - न हि नहि । छेत्तव्यैषा जालरचना विना विलम्बेन । तथा-ऽप्युपायो न दृश्यते कश्चित् । किं कर्तव्यम् । हे आदिनाथ, न पूर्वं कदाचिदप्येवं क्लैश्यमन्वभवम् ।

न राज्यस्याकांक्षा न च विभववाञ्छा न यशसः
न कामेच्छा वाऽपि चिरजीवनकांक्षा न जिगीषा ।
प्रिया याता कुत्र दुहितृहृदि शान्तिः कथमहो
यदि ज्ञातुं शक्यं भवति सफलं देहधरणम् ।।१४।।

तदाभावात्किन्तु मृगजलसमं सौख्यसकलं
मृगो धावन्धावञ्ज्वलयति मुखं स्वस्य निखिलम् ।
तदानीं तु धिग्धिग्जननमपि मोघं भवमिमं
जगत्स्रष्टारं धिग्विफलमिव धिग्धर्मचरणम् ।।१५।।

अरे, कस्येमे नेत्रे । न न न । दूरमपसरतम् । मैवं घृणाकरुणामिश्रितभावेन पश्यतम् । किमेते मे दुहितुर्नयने किं वा हतसर्पाक्षिणी । कति वर्षाणामन्तरे विस्मृतिगर्तात्केन कारणेन निःसरतः । न न न । अपहतम् । प्रायश्चित्त-परिशुद्धस्य मे पापं न विद्यते । मम दुहितुर्नेत्रयोरुषितुं नार्हथः । (*वामहस्तेन चक्षुषी पिदधाति ।*) भवतु । प्रति-जानामि 'न कदाऽपि कस्याऽपि जीवस्य हानिं करिष्ये ।' अहिंसैव मे परमधर्मोऽद्यप्रभृति । प्रतिजानीतं युवामपि मे दुहितुः परिरक्षायै । क्षन्तव्यो मेऽपराधः । (*दीर्घं निःश्वसति । आसनमध्यास्ते । कतिचित्क्षणानि मौनं स्थित्वा पुनरपि करुणस्वरेण –*) क एष स्वप्नजालः । वेपथुश्च शरीरे मे भ्रमतीव च मे मनः । अपि उद्भ्रान्तचेता भवेयम् । न मे बुद्धिनाशो भूयाद् ।

(*इति जपति चान्तरितो भूत्वा स्वपिति किञ्चित्कालम् । कष्टादुत्थाय जवनिकायां निलीनो भवति । क्षणाद् गोशालकादयः केचित्पुरुषा महाश्रमणं पुरस्कृत्य प्रविशन्ति ।*)

गोशालकः – (*इतस्ततो दृष्ट्वा*) अत्राऽपि न दृश्यते कुमारः ।

वसिष्ठः – तत्किं करवामः ।

महाश्रमणः – अत्रैव प्रतीक्षामहे ।

कौशिकः – भवतु । तथैव कुर्मः ।

महाश्रमणः – काश्यप कथं प्रस्तूयाम वार्ताम् ।

गोशालकः – चिन्ता न करणीया । अहमेव प्रवक्ता भवेयम् ।

कौशिकः – तत्तु रत्नकाञ्चनसंयोगवदभिनन्दनीयम् ।

वसिष्ठः – तथाऽपि ।

गोशालकः – न तथाऽपि किमप्यत्र ।

काश्यपः – वार्तायां कस्मिन्नपि प्रमादे सति बुद्धिमान् सोऽस्मानपि शङ्कयेत् शत्रुपक्षा इति ।

कौशिकः – तदानीं तु सङ्कष्टचतुर्थी ।

गोशालकः – खण्डसत्यं वक्तव्यम् । सैव सनातनी राजनीतिः ।

महाश्रमणः – खण्डसत्यं कदाचिदसत्यादपि दुष्टतरं भवति ।

गोशालकः - मा भेतव्यम् । कुशलोऽस्म्यस्यां कलायाम् ।

वसिष्ठः - यदि सोऽस्माकं प्रस्तावं नानुमोदयेत् ।

गोशालकः - (*सस्मितम्*) पतित्वं भूपतित्वं च कस्य नो भवति प्रियम् ।

(*पुनः प्रविश्यान्यमनस्क इव वर्धमानः पर्यटनमारभते ।*)

वर्धमानः - (*स्वगतम्*) चक्रायते मतिः । न दृश्यते कोऽपि सिद्धि-मार्गः । (*वर्धमानं दृष्ट्वा स्तब्धाः सर्वेऽवाचः स्थिताः । वर्धमानस्तु तेषामुपस्थितावनवधान एव* -) पित्रोर्नकारात्मकाभिगमो न रोचते मे । ज्येष्ठस्तु राज्यलक्ष्म्याकृष्टः कुण्ठितमतिर्विपक्ष इव मे जीवनलक्ष्यस्य । निखिले विश्वेऽस्मिन्को मे सहायो भविष्यति । पुनश्च परचित्तप्रवेशो न सुलभः ।

वसिष्ठः - अरे, विचारमग्नः स नास्मान्पश्यति ।

महाश्रमणः - निद्रायां विचरतीति मन्ये ।

काश्यपः - अन्यथावृत्तिचेतोऽस्ति कदाचित् ।

गोशालकः - अथवाऽभिनयं करोति केवलम् ।

वसिष्ठः - अपि श्रुतो भवेदनेनास्माकं संवादः ।

कौशिकः - तदानीं हता वयम् ।

महाश्रमणः - किमपि स्यात् । प्रकटीभवने हि श्रेयोऽस्माकम् ।

सर्वे महाजनाः - जयतु जयतु देवः ।

वर्धमानः - (*बलाज्जागरित इव* -) अये कुत्रत्याः महानुभावाः । कथं कष्टं कृतमस्यां वेलायाम् ।

महाश्रमणः - जानाति हि भवान्यन्महाराजः कृच्छ्रं तपति पर्युषणं देहत्यागाय ।

वर्धमानः - यदि कृपा भवति क्षम्यतामधुना यतः सुमहानुद्वेजितोऽहम् ।

काश्यपः - तथैवोद्वेजिता वयमपि ।

वर्धमानः - केन हेतुना ।

गोशालकः - महाराजस्योत्तराधिकारिणमुद्दिश्य चिन्तिताः प्रजाजनाः ।

वर्धमानः - जानन्त्येव भवन्तो यदायशोदाऽवसानं दुःखभारमसहमानो यथाकथञ्चिज्जीवामि ।

महाश्रमणः - दुःखस्यौषधं कालव्यत्ययः । कतिपयैर्दिनैर्विस्मरिष्यसि ।

।। पञ्चमं श्यम् ।।

गोशालकः – पुनः प्रजाानामनुरञ्जनायैव राजकुले जन्म भवति ।

वर्धमानः – (*दीर्घं निःश्वस्य*) भवतु । वदन्तु यद्वक्तुकामाः । केनोद्विग्ना यूयम् ।

काश्यपः – द्वे मते प्रवर्तेते महाजनेषु ।

कौशिकः – गोशालको हि प्रवक्ताऽस्माकम् ।

वर्धमानः – ज्येष्ठो हि राजपदस्योत्तराधिकारीति सुदृढाऽऽर्यपरम्परा स च समर्थो राज्यभारं वोढुम् । तस्मान्न भिन्नमतावकाशं पश्यामि ।

गोशालकः – ज्येष्ठाधिकारादपि श्रेष्ठाधिकारो महत्तर इति बहुजनमतम् । यतो गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च वयः ।

वर्धमानः – (*सखेदस्मितम्*) कः पुनः श्रेष्ठो बहुजनमतेन ।

गोशालकः – भवानेव तावत्प्रथमः ।

वर्धमानः – कथं ज्ञायते । पुनश्च निर्गुणत्वे यतमानस्य मे किं गुणित्वम् ।

महाश्रमणः – श्रमणा इच्छन्ति धर्मचक्रप्रवर्तनमहिंसापरकम् ।

वर्धमानः – किं मतमपरेषाम् ।

गोशालकः – ब्राह्मणक्षत्रियगणेषु ये वेदपरका वा युयुत्सायां श्रद्दधाना वा ते नन्दिवर्धनपक्षकाराः ।

वर्धमानः – युयुत्सायां प्रजानां न योगक्षेमं पश्यामि ।

वसिष्ठः – (*सोल्लासम्*) तस्मादेवाहिंसायां निष्ठावन्तः श्रमणास्तव पक्षकाराः ।

वर्धमानः – किं मतं महाश्रमणस्य ।

महाश्रमणः – प्रजानां योगक्षेममेव ।

वर्धमानः – (*स्वगतम्*) जानामि कुटिलत्वं गोशालकस्य, सरलत्वं चा-न्येषाम् । कथं त्वयं महाश्रमणो धर्मप्रवृत्तिं विहाय राजकार्ये कालं क्षपयतीति दुर्बोधम् । विभिन्नप्रकृतीनामेषां सहकारत्वमपि चित्रम् । तत्कथं ज्ञास्याम्येतेषां मनोभावानां याथातथ्यम् ।

गोशालकः – किं चिन्त्यतेऽधुना कुमारेण ।

वर्धमानः – (*सखेदम्*) कथं न मन्त्र्यते भवद्भिः पित्रा सिद्धार्थेनैव ।

गोशालकः – तस्य व्रतस्थितस्य तूदासीनवृत्तिर्न रोचतेऽस्मभ्यम् । पुनश्च भवदभिप्रायं ज्ञातुं समुत्सुका वयं यतः स्थितधीर्भवान्

सन्मतमेव दर्शयिष्यति ।

वर्धमानः - ज्येष्ठे न कमपि दोषं पश्यामि ।

गोशालकः - सर्वगुणसम्पन्ने सति तस्मिञ्जनास्त्वामधिकं मन्यन्ते ।

वर्धमानः - किं विचारयति भवान् ।

गोशालकः - जनतैव जनार्दनः । एकस्य मतस्य तु लघ्वी मात्रा ।

वर्धमानः - महासत्यं गदितं त्वया । तथा हि । अस्मिन्विषये ममैकस्यापि मतस्यापि गौणत्वमेव ।

गोशालकः - उपकृता वयम् ।

कौशिकः - तत्किं कर्तव्यं स्यादस्माभिः ।

गोशालकः - (*जनान्तिकम्*) अहमेव त्वां कथयिष्ये । (*प्रकटम्*) अधुना नाधिकतरं कष्टं देयमुद्विग्नाय कुमाराय ।

कौशिकः - स्पष्टबोधे संरक्षां पश्यामि ।

वसिष्ठः - (*जनान्तिकम्*) राजनीतौ स्पष्टवक्तृत्वं मूर्खलक्षणम् । तस्मादिङ्गतेनैव द्योतयन्ति बुद्धिमन्तः ।

महाश्रमणः - तदाज्ञापयतु भवान् ।

वसिष्ठः - गच्छामः पुनरागमनाय ।

(*ऋते वर्धमानात्सर्वे सप्रणामं निष्क्रामन्ति ।*)

वर्धमानः - (*स्वगतम्*) अयं तु गण्डस्योपरि स्फोटः संवृत्तः । न सुखेनासयेदपि । स्वार्थरता एते बन्धुकलहाय कलयन्ते । केनाप्युपायेन विफलीकर्तव्यो दुष्टो व्यवसाय एतेषाम् । हे भगवन् दशभ्यो दिग्भ्यो घर्षितोऽहं दिशो न जाने न लभे च शर्म । (*सखेदमासनमेकमुपविश्य ललाटे हस्तं कृत्वा*) गृहक्लेशात्तु कथं रक्षितव्या प्रियदर्शना । एक एव मार्गः । ... सा तु मातुलगृहे प्रेषितव्या । मातृस्वसुः सहवासेन कदाचित्तस्या दुःखं मन्दं स्यात् ।

(*पुनः प्रविशति वसिष्ठो महाश्रमणेन सह ।*)

महाश्रमणः - (*वर्धमानसमीपं गत्वा*) वत्स कथं कार्पण्यं भजसे। न जानासि किं 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।' अस्मात्कातर्यात्तु शत्रुपक्षा एव बलवत्तरा भवेयुः ।

वर्धमानः - 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु'रिति तु नित्यमेव प्रत्यक्षं करोमि ।

।। पञ्चमं श्यम् ।।

अपि तु मृतस्य पुनर्जन्म न प्रत्यक्षीकृतं कुत्रापि ।

वसिष्ठः – भगवान्योगाचार्यो निर्दिशति योगेन तदपि शक्यं भवति ।

महाश्रमणः – पूर्वेषां तीर्थङ्कराणामपि तावत्येव प्रतिज्ञा ।

वर्धमानः – तदानीं तु योगमाचरिष्ये । किं पुनर्भवतोः पुनरागमनहेतुः ।

वसिष्ठः – गोशालको न विश्वसनीय इत्येव बोधयितुमागतौ । पुनश्च यदि वैद्यापेक्षा (*इत्यर्धोक्ते* –)

वर्धमानः – गूढतरो व्याधिः । तत्र वैद्यः किं करिष्यति । उद्धरेदात्मनात्मानम् । तथापि भवतो सद्भावेनानुगृहीतोऽस्मि ।

महाश्रमणः – तद्विश्राम्यतु कुमारः । गच्छेव भवदाज्ञया ।

(*द्वावपि निष्क्रान्तौ । वर्धमानोऽपि जवनिकाभ्यन्तरं याति ।*)

।। इति पञ्चमं श्यम् ।।

।। षष्ठं श्यम् ।।

[*योगाचार्यस्याश्रमे तृतीयः प्रहरः । आस्तरणोपविष्टो भगवान्योगाचार्यः: । समीपे स्थितो गोशालकः क्षणे क्षणे द्वारं विलोकयति ।*]

गोशालकः - भगवन् तत्को निर्णयः ।

(*तत्क्षणं प्रविशति वर्धमानो विचारमग्न इव ।*)

योगाचार्यः - (*गोशालकस्य प्रश्नमवगणय्य वर्धमानं प्रति*) स्वागतमतिथये ।

वर्धमानः - उपकृतोऽस्मि । आशिषं दातुमर्हसि ।

योगाचार्यः - (*आशीर्मुद्रां रचयित्वा*) ऋषभतुल्यो भूत्वाऽप्रतिमपुरुषार्थेन प्रथितयशो मामपि विस्मारयिष्यसि लोकमानसे ।

(*गोशालकोऽसूयां नाटयति ।*)

वर्धमानः - धन्योऽस्मि ।

गोशालकः - देव, कियत्समयं प्रतीक्ष्ये प्रत्युत्तराय ।

योगाचार्यः - न त्वं मम प्रत्युत्तराकांक्ष्यभवः । त्वं तु प्रत्यैक्षथा वर्धमानागमनम् । तथाऽपि श्रुणु । विद्या सच्छिष्याय हि दीयते । किञ्चित्समयमद्याऽपि प्रयतितव्यम् । पश्चात्पुनरागच्छ ।

गोशालकः - (*सविस्मयं प्रतिकाररूपेण किञ्चद्वक्तुमारभते ।*) न न ... (इत्यर्धोक्ते)

योगाचार्यः - अधुना तु झटिति निवर्तस्व । पश्य ज्वलति ते गृहम् ।

(*गोशालकः झटिति निष्क्रामति ।*)

वर्धमानः - (*सचकितम्*) कथमप्रामाण्यमवदद्भवान् ।

योगाचार्यः - जानासि किं कथमागतमासीत्सोऽत्र ।

वर्धमानः - कथमिव ।

योगाचार्यः - तव प्रतिक्षणचरितं जिज्ञासुः स बहुरूपेण छायेव त्वा-मनुसरति गुप्तचर इव । त्वमत्रागन्तेति ज्ञात्वा ममाश्रमे तव प्रवृत्तिं ज्ञातुकामः शिष्यभावं नाटयित्वा समागत आसीत् । तं दूरीकर्तुम् -

वर्धमानः - तथाप्यलीकं गदितुं नार्हति भवान् ।

योगाचार्यः - वत्स, अयं जनो न कदाप्यलीकं वदति वाऽऽचरति वा । ब्राह्मणोऽहं ब्राह्मणवज्जीवामि, ब्राह्मणवन्मरिष्ये । असूयाज्वलितं गोशालकहृदयं दृष्ट्वा भणितं मया ज्वलति

ते गृहमिति । यतो जीवो गृहस्थो हृदयं तु तद्गृहम् । तथापि भौतिकदृष्ट्याऽपि न तन्मिथ्या । यतः सत्यमेव दह्यते तस्य भवनम् ।

वर्धमानः – गोशालकभवनं तु पञ्चकोशदूरमस्मात्स्थानात् ।

योगाचार्यः – ततः किम् ।

वर्धमानः – एतावद्दूरदर्शनमसम्भवं चर्मचक्षुषः प्रतिरोधकारणात् ।

योगाचार्यः – योगिनस्तु हस्तामलकवत्पश्यन्ति निखिलां जगल्लीलाम्।

वर्धमानः – ततः किं सत्यमेव ज्वलति तस्य गेहम् ।

योगाचार्यः – अथ किम् । चलच्चित्रवत्पश्यामि तद्वाहं स्थानान्तरितोऽपि । यदीच्छसि त्वामपि दर्शयिष्ये तद् दृश्यम् ।

वर्धमानः – यदि शक्यमनुगृह्णातु भवान् ।

योगाचार्यः – बाढम् । चक्षुषी ते पिधत्स्व क्षणमेकम् । (*वर्धमानश्चक्षुषी पिदधाति । योगाचार्य एकं दर्पणमानीय वर्धमानसकाशं स्थापयित्वा तस्याग्रे कुण्डलं रचयित्वा च ॐ इत्येकाक्षरं विलिखति । पश्चात्तत्समीपं योगासने स्थित्वा वर्धमानं प्रति*) पश्य किं दृश्यते दर्पणेऽस्मिन् ।

वर्धमानः – (*दर्पणे दृष्ट्वा अहोभावं नाटयित्वा च*) भगवन् शिक्षितु-मिच्छामि सद्विद्याम् ।

योगाचार्यः – (*सस्मितम्*) सच्छिष्याय हि सद्विद्या दातव्येति श्रुतिः। पुनश्च जैनागमं विहाय कथमत्र पर्यटनम् ।

वर्धमानः – भगवन् वर्तमाने जैनाः सर्वे धर्मं परित्यज्य धने रताः। येन तैः सद्विद्या विस्मारिता ।

योगाचार्यः – तथैव वैदिका वेदविद्यां विहाय केवलं यज्ञयागकर्मकाण्डै-रर्थोपार्जने लग्ना वेदविद्यामपि परिहासं नयन्ति ।

वर्धमानः – पुनश्च दुःखप्रतिकाराय विषयविनिवर्तनरूपा निराहारादि-रभावात्मिका निवृत्तिरूपा वृत्तिः केवलं परमार्थसिद्धये नालमिति मे दृढो विश्वासः । कश्चिद्विधानमार्गमन्वेष्टुमुत्सहे । (*आचार्यो मौनं भजति ।*) स्वतः प्रमाणं हि कांक्षति मे मनः । स्वानुभवप्रामाण्येन हि परितोषं प्राप्नुयाम् । भवानेतादृशं मार्गं दर्शयितुं क्षम इति श्रुत्वेहागतः ।

योगाचार्यः - पूर्वं हि कथितं मया यच्छच्छिष्याय हि दातव्या विद्येति श्रुतिः ।

वर्धमानः - जानामि भवानब्राह्मणेभ्यो नानुशास्ति ।

योगाचार्यः - तन्नालीकम् ।

वर्धमानः - तदाहमपि रिक्तहस्तः प्रतिनिवर्तिष्ये । तवाशीरपि निष्फलीभविष्यति । (*इत्युत्तिष्ठति ।*)

योगाचार्यः - (*सस्मितम्*) न त्वं रिक्तहस्तो गमिष्यसि । न च मे आशीर्विफलीभविष्यति । यतस्त्वं नाब्राह्मणः ।

वर्धमानः - नाहं ब्राह्मणीपुत्राधिकारेण - (*इत्यर्धोक्ते* -)

योगाचार्यः - शान्तं पापम् । तिष्ठतु तन्निरर्थको जनप्रवादः । मम विचारेण तु -

जन्मना जायते जन्तुः सर्वोऽपि शूद्र एव हि ।
ब्रह्मदीक्षां गृहीत्वा स ब्राह्मण इति कथ्यते ।।१६।।

स एव ब्राह्मणो यो रागद्वेषरहितो ज्ञानोपासकश्च । तस्मात्त्वं ब्राह्मण एव ।

वर्धमानः - तथाऽपि नाहं जैनागमं त्यक्तुमुत्सहे । न च त्वां दीक्षागुरुपदे स्थापयितुम् । इदानीं तु द्वयोरेव प्रश्नयोः समाधानं प्राप्तुकामोऽस्मि ।

योगाचार्यः - सुष्ठु शोभसे त्वमनया सावधानतया स्पष्टभाषणेन । पुनर्न मे अभिलाषो गुरुपदग्रहणे । तस्मात् -

शिष्यो भवस्यशिष्यो वा वैदिकोऽवैदिकोऽथवा ।
पूर्णं तु कर्तुं मे कार्यं शक्तस्त्वं नात्र संशयः ।।१७।।

परमार्थज्ञान आवां सहपन्थिनाविति कृत्वा त्वामध्यापयिष्ये यत्किञ्चिदप्यहं जानामि ।

वर्धमानः - ततो मे प्रश्नयोर्द्वयोः प्रत्युत्तरं दातुमर्हति भवान् ।

योगाचार्यः - न तत्सरलम् । योगाभ्यासेन विना न शक्यः स्वानुभवस्तादृशेषु विषयेषु ।

वर्धमानः - प्रश्नपूर्वं कथमुच्यते प्रत्युत्तरस्य सरलासरलत्वम् ।

योगाचार्यः - विना पृष्टेऽपि जानामि तयोः स्वरूपम् ।

वर्धमानः - (*सोत्सुकम्*) किमिव ।

।। षष्ठं श्यम् ।।

योगाचार्यः – प्रथमं तु परलोकस्य पुनरागमनस्य च विषये ज्ञातु-मिच्छसि ।

वर्धमानः – अथ द्वितीयम् ।

योगाचार्यः – छलीभी राजपुरुषैः परिवृतः परचित्तप्रवेशविषयेऽस्ति ते पृच्छा ।

वर्धमानः – भगवन् स्वीकरोमि पराजयम् । केन विधिनाऽऽज्ञातं भवता मे मनोवृत्तम् ।

योगाचार्यः – रागद्वेषरहितं चित्तं परेषां मनोव्यापारान् बुद्धियोगेन सरलतया जानात्यन्तरायाभावत् ।

वर्धमानः – व्याख्यातुमर्हति भवान्यदि मेऽधिकारः स्यात् ।

योगाचार्यः – प्रागेव प्रतिज्ञातं मया त्वामध्यापयिष्य इति । जर्जरितदेहस्य मे त्वमेवाशा । त्वयि पूर्णतामेष्यति योगविद्येति मे श्रद्धा ।

वर्धमानः – भवतैव कृतं योगशास्त्रमिति श्रुणुमः ।

योगाचार्यः – तन्न मिथ्या । तर्कबद्धं कृत्वा सकलशास्त्रं सूत्रैर्ग्रथितं मया ।

वर्धमानः – तत्किमवशिष्टम् ।

योगाचार्यः – वत्स, यत्सम्यग् दृष्टं ज्ञातं च तत्सम्यगाचारेण सिद्धं भवति । यत आचारसिद्धं हि प्रमाणं भवति । निर्विकल्पसमाधि-पर्यन्तं ध्यानमार्गो यमनियमप्राणायमपञ्चमहासिद्धिपर्यन्तमाचारमार्गश्च प्रमाणितो मयाऽऽचारेण । देहोत्सर्गादिभ्यः केभ्यश्चित् कृच्छ्र-प्रयोगेभ्यो न क्षममिदं वृद्धशरीरमधुना । एतेषां सिद्धये सुखासक्तेऽस्मिन्समाजे न दृश्यते त्वत्तः कोऽप्यन्यः समर्थो मया । वीरोऽसि योगे महासिद्धिं प्राप्य महावीरो भविष्यसि ।

वर्धमानः – अर्हतामाशीर्वचनं शिरोधार्यं भवति ।

योगाचार्यः – तथाऽपि कृच्छसाध्य एवायं मार्गः । पुनश्च योगभ्रष्टो मुनि-रतिभयङ्करो भवति । स्वयं पतति, अन्यानपि पातयति ।

वर्धमानः – भगवन् प्रतिजानामि त्वत्समक्षं नाहं परन्तपो भवेयं कथञ्चनेति ।

योगाचार्यः – तन्नालम् । द्वेऽन्ये प्रतिज्ञेऽपि कर्तव्ये ।

वर्धमानः – किंरूपे ।

योगाचार्यः – कैवल्यज्ञाप्तिपर्यन्तं मौनं साधयितव्यम् । उपदेशदाने सिद्धिप्रदर्शने वा बुद्धिर्न कर्तव्या ।

वर्धमानः - अथ द्वितीया ।

योगाचार्यः - मतमतान्तरवादप्रवर्तने न कदाऽपि बुद्धिं चालये ।

वर्धमानः - द्वेऽपि मे नन्वनुकूले ।

योगाचार्यः - तदाऽञ्जलिं गृहाण ।

(*वर्धमानो हस्ते जलमादाय यथानिर्दिष्टे प्रतिज्ञे करोति । तत्क्षणं तीरमेकमन्तरिक्षादागत्य योगाचार्यस्य चरणसमीपं पतति । तद्दृष्ट्वा* -)

वर्धमानः - भगवन् कस्मादयं निशितशरपातः ।

योगाचार्यः - न किञ्चिद्भयकारणम् । अयं तु सन्देशः । (*बाण-पुङ्खे सक्तं पत्रं पठति । पाठान्ते* -) वत्स, आवयोः संवादोऽत्रैव समाप्यते ।

वर्धमानः - कथं कथमिव ।

योगाचार्यः - आगमिष्यति क्षणादेवैकोऽश्वारोही । आनेष्यति स सुमहान्तं सन्देशं त्वत्कृते । निवर्तितव्यं च त्वया राजप्रासादे सत्वरम् । पश्य, आगत एव सोऽश्वारोही ।

(*ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टः पुरुषः ।*)

अश्वारोही - भगवन् अभिवादये । अविनयो मे क्षन्तव्यो यतः त्वरया प्रतिनिवर्तितव्यं मया । अपि दृष्टः कुमारो वर्धमानः कुत्रचित्निवेदितं केनचित्स भगवत आश्रममुद्दिश्य गृहान्निर्गत आसीदिति ।

वर्धमानः - (*पुर आगत्य*) अत्रैवाऽहम् । का वार्ता ।

अश्वारोही - आसन्ननिर्वाणवेलौ ते पितरौ त्वां चातकदृष्ट्या प्रतीक्षेते ।

वर्धमानः - (*सरभसमुपसृत्य योगाचार्यं प्रति* -) तदाज्ञापयतु भवान् ।

योगाचार्यः - सुखङ्कराः पन्थानः भवन्तु ।

वर्धमानः - प्राप्तावकाशः पुनरागमिष्यामि । (*निष्क्रान्तः । अश्वारोही तमनुसरति । मुनिः पुनः पत्रं पठंस्तिष्ठति । पटपक्षेपः ।*)

।। इति षष्ठं श्यम् ।।

।। सप्तमं श्यम् ।।

[*प्रासादखण्डे पर्यटति वर्धमानो विचारमग्नः ।*]

वर्धमानः – दिवं गते पितरि दशमो वासरोऽद्य । तथाऽपि तं च मातरं स्मृत्वा स्मृत्वा रोदिति मे मनः । न जाने क्व गतौ तयोः प्रेतौ । महामुनिरपि नोदघाटयत्परलोकपुनर्जन्मरहस्यम् । केवलं योगं समाचरेत्येवमुपादिशत् । (*ततः प्रविशन्ति गोशालकप्रमुखास्त्रिचत्वारो जनाः । वर्धमानमधीरभावेन पर्यटन्तं दृष्ट्वा मौनं साधयित्वा जवनिकासमीपमर्धलीनाः स्थिताः । वर्धमानस्तु तेषामागमनादनभिज्ञस्तथैव पर्यटति व्याकुलमनसा प्रकटचिन्तनं कुर्वन्नेव ।*) अथवा स तु प्रस्तुत आसीत्साहाय्यार्थं विधिनैव हि दुग्धे मक्षिका क्षिप्ता । गोशालकस्य गृहं दग्धं मम त्वीश्वरत्वम् । तथापि पुनर्यतिष्ये हेतुसिद्धये ।

आगन्तुकानामेकतमः – (*स्वगतम्*) सत्यं गदितं गोशालकेन यद्यो–गाचार्यस्याश्रमे षड्यन्त्रं रच्यते । (*वर्धमानं निदर्शयित्वा*) मयि जीवति तु न त आशा फलिष्यति ।

वर्धमानः – (*तथैव*) मनस्वी कार्यार्थी पराभवपरम्पराभिरपि न भजते नैराश्यम् । महाफलं प्राप्तुकामेन महाधृत्या वर्तितव्यम् । अतिक्रमणीयाः सर्वे प्रत्यूहाः । ... तत्र ज्येष्ठो हि प्रथमः प्रत्यूहः । स कथं दूरो भवेत् ।

(*पूर्वनिर्दिष्ट आगन्तुको वर्धमानमुपसृत्य तस्य च प्रकोष्ठं गृहीत्वा छद्मवेषं परित्यज्य नन्दिवर्धनरूपेणाविर्भवति ।*)

नन्दिवर्धनः – आः पाप, सुष्ठु गृहीतः ।

वर्धमानः – (*साश्चर्यम्*) भो ज्येष्ठ कुतस्त्वम् । कथं च छद्मवेषेण चरसि ।

नन्दिवर्धनः – षड्यन्त्रकारिणोऽभिज्ञानाय राज्याधिकारिणो गुप्तं चरन्तीति प्रसिद्धम् ।

वर्धमानः – (*जनान्तिकम्*) देव, अपरिपक्वं छिन्नं भवता ।

(*ततः प्रविशति पत्रहस्तो भारद्वाजः । प्रविशन्नेव –*)

भारद्वाजः – कः पुनरधन्यः षड्यन्त्रे प्रवृत्तः ।

नन्दिवर्धनः – (*सतिरस्कारम्*) अयं मे लघुबन्धुः ।

वर्धमानः - नाहं मनसाऽपि षड्यन्त्रं चिन्तयामि ।

नन्दिवर्धनः - (*विकृतस्वरेण वर्धमानोक्तेः पुनरावर्तनं करोति ।*) नाहं मनसाऽपि षड्यन्त्रं तर्कयामि । दग्धं मम त्वीश्वरत्वम् । ज्येष्ठो हि प्रथमः प्रत्यूहः । (*सकोपम्*) बन्धो, ज्योतिषिभिभ्रामितो यदि मन्यसे ज्येष्ठे जीवति राज्यासनं प्राप्स्यामि तर्हि - (इत्यर्धोक्ते)

वर्धमानः - नाहं कदापि राज्यपदाकांक्षी ।

नन्दिवर्धनः - तत्कीदृशमीश्वरत्वमाप्तुमिच्छसि । कस्मिंश्च प्रत्यूहोऽहम् ।

वर्धमानः - दीक्षां गृहीत्वा योगमाचरितुमिच्छामि ।

नन्दिवर्धनः - किं प्रमाणम् । पलायितुमक्षमो बिडालश्चान्द्रायणव्रतमेव प्रतिजानाति ।

भारद्वाजः - प्रमाणमहं दास्यामि । पठ पत्रमिदम् । (*स्वहस्तगतं पत्रं नन्दिवर्धनाय ददाति ।*)

नन्दिवर्धनः - (*कौशिकाय पत्रं दत्वा*) कौशिक त्वमेव पठ । येन दृढं गृहीतो मयाऽयं न पलायते ।

कौशिकः - (*पत्रं पठति ।*) साष्टाङ्गप्रणिपातेन बालोऽयं वर्धमानो निवेदयति भगवते भारद्वाजाय महाश्रमणाय देवभूतये च यदायशोदावसानमुद्भ्रान्तमिवात्मानं पश्यामि । प्रत्यक्षीकृता मया जीवस्योत्पत्तिस्थितिलयवेदना । तेन च सर्वमिदं दुःखमयं भाति मे जगत् । तस्मान्मोक्षोपायं चिन्तयतो मे न कुत्राऽपि लभ्यते शान्तिः । अज्ञानकूपे निमग्नमिवात्मानं पश्यामि । न जाने किमभवद्धरिणीदृशः । तथैव न जाने कुत्र गतौ मे पित्रोः प्रेतौ । न जाने किं भविष्यति मे प्रियदर्शनायाः । न जानामि जन्महेतुं वा मरणकारणं वा । न जाने सहवासिनां मनोव्यापारान् । जनुषान्धइवैतस्मान्मुक्तिमार्गमपि न जाने । भ्रान्तचेतसा न लभे शान्तिम् । अशान्तस्य कुतः सुखम् । तेन च विशालेऽस्मिञ्जगद्विस्तारे एकलतामनुभवन् रुद्धकण्ठ इव कथंचित्प्रणिमि । अस्यां दशायां न कोऽप्यिन्यो मार्गो श्यते ज्ञानप्राप्तिं विना । वैराग्यभावेनभिभूतोऽस्मि ।

सत्यं ब्रवीमि -

न राज्यस्याकांक्षा न च विभववाञ्छा न यशसः
न कामेच्छा वाऽपि चिरजीवनाकांक्षा न जिगीषा ।
अपापानां दुःखं कथमपरलोकोऽस्ति न हि वा
अजानन्तन्मन्ये विफलमिति मे जन्म निखिलम् ।।१८।।

पुनश्च ज्येष्ठोऽपि मे शङ्कते । न जानामि च मार्गं तस्य शङ्कापनयनाय । तस्मात्तज्ञातुमुत्सहे यज्ज्ञात्वा सर्वं ज्ञातं भवति । तेन हेतुना दीक्षां गृहीत्वा योगमाचरितुमिच्छामि । किन्त्वस्मिन्विषये ज्येष्ठो मे प्रथमः प्रत्यूहः । भ्रातृस्नेहात्सोऽनुमतिं न दास्यतीति निश्चितं जानामि । यदि कृपा भवति भवतस्तमनुनीयानुमतिं दापयतम् । अपरं च गृहीतायां मया दीक्षायां यूयमेव त्रयो मम सकलसम्पत्तेः कर्तारो भवितुमर्हथ प्रियदर्शनायाः कृते । इदानीं चेद्युष्माकं कृपा न भवति निरालम्बोऽहं हृदयभारेण जीवन्नपि मृत इव स्याम् ।

(*यथा यथा च कौशिकः पठन्नास्ते तथा तथा नन्दिवर्धनस्य हस्तौ शिथिलौ भवतः । पाठान्ते च मुञ्चति ग्रहम् ।*)

नन्दिवर्धनः - वत्स, क्षमस्व माम् । यतोऽजानता महिमानं तव चित्तवृत्तेरपराद्धोऽसि मया ।

वर्धमानः - यदि तुष्टोऽसि पितृरूपेण त्वयाऽनुज्ञा दातव्या ।

नन्दिवर्धनः - कथं पितृरूपेणेति ।

वर्धमानः - दिवं गते पितरि ज्येष्ठो हि पितृरूपो भवतीत्यार्याचारः । ते पादयोः पताम्यनुज्ञार्थम् । (*इति पादयोः पतति ।*)

गोशालकः - अविचार्यानुज्ञा न दातव्या यतो न जानीमहे तस्य मनोभावं याथातथ्येन ।

नन्दिवर्धनः - धिग्दुष्ट । दूरमपसर । आदितस्त्वमेव बान्धवयोर्मध्ये विषं प्रसारयसि ।

वर्धमानः - भ्रातर्, न कोऽपि दुष्टोऽस्ति जगति । गोशालकस्तु मूर्खः ।

नन्दिवर्धनः - (*वर्धमानमुत्थापयन्*) उत्तिष्ठोत्तिष्ठ । वत्स, परि-ष्वजस्वाङ्गानि । (*वर्धमानं परिष्वजति ।*) क्षम्यतां मे

शङ्काशीलं हृदयम् ।

वर्धमानः - मम निर्गमनेन निष्कलङ्कं राज्यं भुंक्ष्व ।

नन्दिवर्धनः - परिसमाप्ता गमनवार्ता । ग्रहणान्मुक्तश्चन्द्र इव विशदो जातो म अन्तरात्माऽधुना ।

वर्धमानः - कथं परिसमाप्यत एवमेव । अन्तर्दहति ममाज्ञानपुञ्जः । एतादृशः शङ्कानुभवो न प्रथमः । संसारारण्ये पदे पदे शङ्कते मनः कामक्रोधलोभादिविकारैश्चलितम् ।

नन्दिवर्धनः - भद्र, पुनरपि प्रार्थये क्षम्यतां म अपराधः इति ।

वर्धमानः - नैतत्ते दोषः । प्रपञ्चरचना ह्येतादृशी । तस्माद्धि याज्ञवल्क्यो होवाच 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो निदिध्यासितव्यः । तज्ज्ञातव्यं येन ज्ञातेन सर्वं ज्ञातं भविष्यति ।'

नन्दिवर्धनः - ज्ञानवार्ता तु श्रमणेन कर्तव्या । जानामि केवलं यद् गते त्वयि पितृस्नेहवञ्चितोऽहमल्पकालेन भ्रातृस्नेहवञ्चितो भूयासमिति न सहनीयं मया । प्रियदर्शनायाः प्रतिक्रियाऽपि विचारणीया ।

वर्धमानः - कथं पर्यटामि सदाकालमज्ञाननिबिडे ।

नन्दिवर्धनः - नाहं तव मार्गावरोधं करोमि । तव योगाभ्यासे संमतोऽहं द्वित्रिणि वर्षाणि दीक्षाया नामाऽपि तु न ग्रहीतव्यम् ।

वर्धमानः - किन्तु -

नन्दिवर्धनः - त्वमेव कथयसि दिवं गते पितरि ज्येष्ठबन्धुः पितृरूपो भवति । पित्राज्ञा तु पालनीया न विचारणीया ।

(*ततः प्रविशति रक्षकः । प्रविशन्* -)

रक्षकः - देव, श्वशुरपक्षाः समायाताः शोकदर्शने । प्रतीक्षन्ते ते भ्रात्रोर्दर्शनाय ।

वर्धमानः - द्विवर्षान्ते -

नंदिवर्धनः - (*निजिगमिषुरेव*) चिन्तयिष्यामि । अधुना त्वतिथीनां स्वागताय गच्छामः । (*निष्क्रान्तः ।*)

(*तमनुसरन्तः सर्वेऽपि निष्क्रामन्ति । विचारमग्नो गोशालकोऽन्तिमः ।*)

।। इति सप्तमं श्यम् ।।

।। अष्टमं श्यम् ।।

[*प्रासादस्य सभाखण्डे बहूनि धान्यवस्त्रालङ्कारमुद्रापूर्णानि पात्राणि दृश्यन्ते । वर्धमानः श्वेतदुकूले धारयन् सोत्साहं पर्यटति । सेवका अन्यानि पात्राण्यानीयानीय स्थाने स्थापयन्ति ।*]

वर्धमानः – अद्यातीव प्रसन्नं मे चित्तम् । बन्धनमुक्त इव, हृत-समस्तशिरोभार इव, निष्क्रामितः पञ्जरादिवात्मानं लक्षये । ज्येष्ठानुज्ञातो द्वितीयप्रहरे श्रमणदीक्षां ग्रहीष्ये । अस्मिन्नूतनप्रस्थाने मामद्य देवकिन्नरगन्धर्वास्तीर्थंकरा जनपदाश्चाशिषो ददतु । चतुर्भ्यः पुरुषार्थेभ्योऽर्थकामौ विहायाधुना धर्ममोक्षार्थं प्रयतिष्ये । कामक्रोधलोभादिमनोविकारैर्मुक्तो विलासवैभवादीन्पाशांश्छित्वा कैवल्यज्ञानमार्गे प्रस्थास्ये । मृत्युं जित्वेश्वरो भूत्वा च सर्व-भूतहिताय योगाय मे मनीषा । (*अष्टवर्षीया प्रियदर्शना प्रविशति । तां दृष्ट्वा* –) एहि, एहि प्रियदर्शने । परि-ष्वजस्व मेऽङ्गानि । (*इति वदन् तामभ्येत्य हस्ताभ्यामुत्थाप्य परिष्वजति । रुदन्तीं तामवतार्य* –) मूर्खे, कथं रोदिषि । अद्य तु मङ्गलावसरः । पश्य ते जनकः कियत्प्रसन्नोऽस्ति । पितृ-हर्षेण त्वयाऽपि मोदितव्यम् ।

प्रियदर्शना – कथं मोदये । त्वमपि मां जहासि । मातृहीनाऽहं पितृहीना भूत्वा पादपच्छिना लतेव कथं जीवितं धारयिष्ये । त्वया परित्यक्ता सर्वस्वं हारितेव पितृभ्यां परित्यक्ता शकुन्तलेवा-त्मानमनुभवामि ।

वर्धमानः – अर्थो हि कन्या परकीय एव । यदाकदाचित् पित्राऽन्य-हस्ते समर्प्यत एव ।

प्रियदर्शना – पितृकृते कन्या परकीयोऽर्थः । न तु पिता कन्यायाः कृते । न च कोऽपि परिग्रहीताऽद्याऽपि । अतो मार्गे क्षिप्ता मृद्दीपिकेव बालकानामपि लत्ताप्रहारान् सहिष्ये ।

वर्धमानः – अतीव बुद्धिमती त्वम् । किन्तु नाऽहं त्वां त्यजामि ।

प्रियदर्शना – अपि जानीयां किं वैराग्यकारणं पितुः ।

वर्धमानः – न वीतरागोऽहम् । विशेषरागो हि मे वैराग्यकारणम् ।

प्रियदर्शना – न प्राप्तम् ।

वर्धमानः - समदु:खिनां प्राणिनां सम्मेलनमिदं जगत् । अतो भूत-दयाप्रेरितोऽहं जगत्कल्याणाय हि दीक्षां गृह्णामि । (*प्रियदर्शना विचारमग्ना स्थिता । तां रत्नाभूषणपात्राणि दर्शयित्वा* -) कथय, एभ्यः कति किं चेच्छसि ।

प्रियदर्शना - न किमपि । यत्तातः परिहरति तद् दुहिता कथं परिग्रहीष्यति । अद्य प्रभृत्यहमप्यपरिग्रहव्रतमाचरितुं यतिष्ये ।

वर्धमानः - धन्याऽसि । धन्योऽस्मि च ते पिता । अपरिग्रह एव मार्गः सात्त्विकसुखस्य । प्रियदर्शने, अद्य त्वं मे प्रियतर-दर्शना सञ्जाता ।

प्रियदर्शना - न । न प्रियतरदर्शना । अप्रियतरदर्शना एव, येन मां दृष्टिपथादपि दूरीकरोषि । मातृहीना पितृहीना कथं - (*इत्यर्धोक्ते गद्गदकण्ठेनाधिकतरं वक्तुं न शक्नोति ।*)

वर्धमानः - वत्से, समाश्वसिहि ।

प्रियदर्शना - वरमेकं दातुमर्हसि ।

वर्धमानः - किमिव ।

प्रियदर्शना - प्रतिसंवत्सरमेकवारं मे दर्शनं दातव्यम् ।

वर्धमानः - तथास्तु । तव मिलने च वैराग्यपरीक्षापि भविष्यति ।

(*पुनरन्योन्यं परिष्वजेते । ततः प्रविशति नन्दिवर्धनः ।*)

नन्दिवर्धनः - (*उपसृत्य*) प्रिय भ्रातर्, वयसा ज्येष्ठोऽहं गुणै-र्वृद्धतरं त्वां प्रणमामि । (*इति वन्दते ।*)

वर्धमानः - (*प्रतिवन्दनं कृत्वा*) तात, न मां पापभागिनं कुरु । अत्यादरः प्रमादाय । न मया प्रमदितव्यं प्रथमे पद एव ।

(*प्रविशति महाश्रमणः ।*)

नन्दिवर्धनः - मैवम् । तव धृतिमतिनतिभिर्ममापि हृदयं विशदं भवति । यथा प्रकाशवान्प्रभाकरः प्रकाशयत्यन्यानप्रकाशमानान्पदार्थानपि ।

महाश्रमणः - त्वया गृहीतायां दीक्षायामहमपि सिद्धार्थो भविष्यामि । त्वादृशानां दीक्षायै दीक्षागुरुस्तुकेवलं निमित्तं भवति । तथाऽपि सत्कार्ये निमित्तमपि पुण्यलाभं करोतीति वृद्धवचनम् । सत्कार्ये विलम्बो न कर्तव्यः । तस्मात्प्राग्दीक्षादानकृत-

।। अष्टमं श्यम् ।।

संकल्पानुसारं दानविधिः प्रारब्धव्यः । तदर्थं नगरघोषणा प्रासादद्वारे पुनरपि घोषयितव्या । तदुद्घोषकमाज्ञापयतु भवान् ।

नन्दिवर्धनः - (*उद्घोषकमाहूय* -) एवमेवम् । (*इति घोषणालेखं ददाति* ।)

उद्घोषकः - (*द्वारि गत्वा* -) भो भोः प्रजाजनाः, श्रुणुत । अयं श्रमणदीक्षाकांक्षी कुमारो वर्धमान उद्घोषयति -

केषामस्ति स्पृहान्नधान्यविषये वासांसि वाञ्छन्ति के
कांक्षन्ते कलशांश्च के पशुधनं छत्राणि वा पादूकान् ।
कन्यादानकृते धनानि पुनरप्याचार्यदेयं च के
पर्यङ्के शयनेच्छुकाः क उ रथान् रत्नानि वेच्छन्ति के ।।१९।।
येभ्यो यस्य रुचिर्यथेच्छमथ तद्ब्रूयुरनुगृह्य माम् ।।२०।।

(*याचकानां प्रवाहः प्रविशति । बहुमूल्यानि विविधानि वस्तूनिदृष्ट्वा साश्चर्यानन्दोद्गारांश्च करोति । वर्धमानः प्रतिपलं वर्धितोत्साहो याचकेषु तेषां रुचेरनुसारं देयं वितरति । कति समयेन प्रियदर्शनामपि साहाय्यार्थमाह्वयति । द्वावपि तौ समुद्राम्भसि जलमुच्च्चालयन्तौ बालाविव हर्षोन्मत्तौ हस्ताभ्यां विविधानि वस्तूनि विकिरतः इतस्ततो याचकेभ्यः । याचका अपि 'ॐ स्वस्ति' 'शुभं भवतु' 'कल्याणमस्तु' 'इष्टलाभं प्राप्नुतम्' इति नानाशीर्वचनैस्तावभिनन्दन्ते । यथा यथा पात्राणि रिक्तानि भवन्ति तान्यपहृत्य नवानि पूर्णपात्राण्यानयन्ति दासजनाः । तत्रान्तरं प्रविशति गोशालकः ।*)

गोशालकः - (*प्रविश्य, सासूयम्* -) अपि त्रिभुवने स्यात्कश्चिदन्यो मूर्खतरो य एवं विधिना दत्तामपारां लक्ष्मीमपि तृणमिव वर्जयेत् । विनाशकाले खलु विपरीतबुद्धिः ।

(*पटपक्षेपः*)

।। इति अष्टमं श्यम् ।।

।। नवमं श्यम् ।।

(*श्रमणाचारे वर्धमानस्य द्वितीयो वर्षावासः । राजगृहस्योपनगरे तन्तुवाद्यशालायामुपविष्टो वर्धमानश्चिन्तनमुद्रायामवस्त्रकः । बहिः प्रचलति झञ्झावर्षायाः प्रकोपः क्षणात्प्रविशति कश्चिदन्यः श्रमणो जलसिक्तवासाः शीतकम्पिततनुः । महावीरस्तं दृष्ट्वाप्यविचलभावेन तथैव तिष्ठति ।*)

श्रमणः - (*प्रविशन्नेव* -) को नु भो अत्र । (*महावीरं दृष्ट्वोपसृत्य*) अपि सुलभो वर्षावासोऽस्यां शालायाम् । (*महावीरो मौनं भजते । अतः समीपं गत्वा सकोपम्*) अरे, अयं तु दिग्वासाः । (*सक्रोधम्*) नग्नं चरितुं न जिह्रेषि किम् ।

महावीरः - (*सस्मितम्*) न हि । पापं चरितुं जिह्रेमि ।

श्रमणः - मूढ, किं नग्नचारः पापं नाऽस्ति ।

वर्धमानः - नैव । अनेकवस्त्रपरिग्रह एव पापमस्मिन्समये विना वस्त्रं प्रकम्पिततनुषु विद्यमानेष्वनेकवृद्धबालरोगिषु ।

श्रमणः - एष तु मिथ्याप्रलापः ।

वर्धमानः - न तथा भयङ्करो यथा मिथ्याप्रवादः ।

श्रमणः - एतादृशी शास्त्राज्ञाऽपि 'अपरिधानो न व्रजेत्' इति ।

वर्धमानः - अनुभवसिद्धेरनपेक्षा शब्दप्रमाणस्य । पुण्यपापनिर्णये तु शास्त्रप्रमाणादपि भावनाप्रमाणं बलवत्तरम् ।

परतो लभ्यते ज्ञानं स्वतो लब्धं तु दर्शनम् ।
दर्शनं वीतरागस्य शास्त्रादेशाद्विशिष्यते ।।२१।।

श्रमणः - किं तव दर्शनं का च ते भावना ।

वर्धमानः - दययाऽऽदत्तं दिगम्बरत्वं शिवरूपेण शोभते इति दर्शनम् । दुर्लभवसनेऽस्मिन्काले तितिक्षाक्षमोऽहं कथं परिगृह्णीयां वस्त्राणि इति भावना । श्रुणु भो गोशालक । (*गोशालक आश्चर्य-कम्पमनुभवति । तदपरिगणय्य* -) कश्चिद्दरिद्रो ब्राह्मणो मे दुकूलार्थी वर्षपर्यन्तं मामन्वसरत् । अथ एकदा मार्गे गच्छतो मे दुकूलं वृक्षशाखालग्नं परिहृतम् । तच्च पश्चादागतेन तेन हर्षोत्फुल्लनयनेन धृतम् । ब्राह्मणं चौर्यकर्मणि प्रवृत्तं दृष्ट्वा विगलितहृदयेन चिन्तितवानासम् । चौर्ये प्रवृत्तस्य ब्राह्मणस्य दुकूलापेक्षा ममापि बलवत्तरा स्यात्तन्न युक्तं तेन कलहायितुमिति

।। नवमं श्यम् ।।

कृत्वा सर्वस्वं त्यक्त्वा विचराम्यहं दिग्वासाः ।

गोशालकः – (*स्वगतम्*) श्रुतं मया यदेकाकिनं विचरता वैशालीकुमारेण कठिनपरिश्रमैर्महासिद्धिः प्राप्ता । बाह्यरूपेणातिपरिवर्तितोऽप्ययं वर्धमान एवेति तर्कयामि । तस्मात्तस्य साहचर्यं कृत्वा तं च प्रसाद्याहमपि सिद्धिलाभं कुर्यामिति मे मनीषा । (*प्रकाशम्*) भगवन् कथमजाना यदहं गोशालकः ।

वर्धमानः – तद्भावनयैव ।

गोशालकः – अजानता महिमानं तवेदं कृतापराधोऽहं क्षन्तव्यः ।

वर्धमानः – सर्वमज्ञानमयं जगत् । तत्कः कं क्षम्येत् ।

गोशालकः – अभिभूतस्ते शालीनतया । तस्माज्जात्या ब्राह्मणोऽपि महाब्राह्मणं त्वां शरणागतोऽस्मि । त्वच्चरणयोश्चैलकं समर्प्य शिष्यत्वं कांक्षे ।

वर्धमानः – वस्त्रविषय उदासीनोऽहं न च गुरुपदकांक्षी ।

गोशालकः – तथापि गोस्वामिनं गौरिवानुवर्तिष्ये त्वामद्यप्रभृति ।

वर्धमानः – तत्रापि ताटस्थ्यभावो मे । जगन्मातेयं वसुधा । मातुरङ्के यथेच्छं विचरन्तं त्वां निषेद्धुं नाधिकारोऽस्ति मे । मम तु वर्षावासोऽत्रैव निर्मितः ।

गोशालकः – (*स्वगतम्*) अनुकूलानि मे नक्षत्राणि यैरपावृतं महासिद्धिलाभद्वारं मत्कृते । अपि लभेयात्रभवतः कायोत्सर्गपरकायाप्रवेशादीनां महासिद्धीनां ज्ञानम् ।

वर्धमानः – (*तस्य मनोभावं परिकलय्य*) सम्बन्धमाभाषणपूर्वमाहुः । त्वं च मे बालसखा, तस्मात्प्राङ्मौनधारणं कथयामि ते हिताय । यादृशी यस्य भावना तादृशी तस्य सिद्धिः । यदि सत्यकामोऽसि, अन्वेषय केवलं कैवल्यम् । तथा हि नाहं पूर्णसिद्धो जिनेश्वरो वा । केवलं सत्यप्रयोगी मार्गान्वेषकः । तन्न मे वचनमुपदेशरूपेण ग्राह्यम् । मम मार्गस्य प्रथमं सोपानं सम्यग्दर्शनम् । अर्थाददोषैर्निर्विकारज्ञानेन्द्रियैः संसारदर्शनम् । तद्दर्शनजनितं रागद्वेषरहितं सम्यग्ज्ञानं द्वितीयोपासनम् । ज्ञानस्य परीक्षणं चारित्र्यम् । अतः सम्यगाचार इति तृतीयं सोपानमन्तिमम् । सम्यगाचारस्य परीक्षणं परिषहोपसर्गधृति–

क्षमता । एषा रत्नत्रयी सर्वज्ञानविज्ञानप्राप्तिसाधनमिति मन्ये ।

गोशालकः - महायोगिना त्वयाऽनेका महासिद्धयः संप्राप्ता इति जनश्रुतिः ।

वर्धमानः - महासिद्धयस्तु बालानां क्रीडकानि । मा त्वं तासु लुब्धो भव ।

गोशालकः - यदि मामुपसर्गपरिषहायासमर्थं मन्यसे तर्हि प्रथमपदे परित्यजेयमहमपि वस्त्रपरिधानम् । (*इति वस्त्रत्यागाय प्रवर्तते ।*)

वर्धमानः - अनुकरणं न योगाय कल्पते । पुनश्च श्रद्धारहितं यत्तपो मूढभावेन क्रियते तत्तामसमित्युच्यते नरकहेतुकम् । अहेतुको वस्त्रत्यागो वस्त्रग्रहणं वोभयमपि प्रेरितं भवति ।

गोशालकः - (*स्वगतम्*) केन दृष्टः स्वर्गलोकः नरकलोको वा । यावज्जीवेत्सुखेन चैश्वर्येण च जीवेदति मे ध्यानमन्त्रः । तेन हि पुनरष्टमहासिद्धीः प्राप्तुमुत्सहे । तथाऽपि चिरन्तन-सुखायाल्पावधि महदपि दुःखं म अभिनन्दनीयम् । (*प्रकटम्*) तथाऽपि परिषहे ते द्वितीयो भवेयमद्य प्रभृति ।

(*वर्धमानस्तच्छ्रुत्वा मन्दं मन्दं हसति ।*)

वर्धमानः - (*सस्मितम्*) अधुना ध्याने तिष्ठेयम् । (*इति ध्यानस्थो भवति ।*)

गोशालकः - अहमपि तथैव करोमि । (इति ध्यानं नाटयति ।)

(*बहिर्घनगर्जना । ततः सर्वत्रान्धकारः प्रसरति । पटपरिवर्तनम् ।*)

।। इति नवमं श्यम् ।।

।। दशमं श्यम् ।।

[*वनान्तिके लघुग्रामप्रान्तरे वीथिका । आबालवृद्धाः केचित्पुरुषाः क्रोधाध्माताः प्रविशन्ति ।*]

द्वित्राः पुरुषाः – (*सममेव*) क्व गतः स दिगम्बरः ।

एकः कुमारः – (*नातिदूरे स्थितं वृक्षमूलं दर्शयित्वा*) एष उपविष्टो वृक्षमूले पर्णैरधरङ्गमाच्छाद्य ।

अन्ये पुरुषाः – हन्यतां हन्यतां सः । अपहरति स एवास्माकमपत्यानि । (*वृक्षमूलमुद्दिश्य पाषाणवर्षीं कुर्वन्ति ।*)

एकः पुरुषः – हे, क्षतविक्षतोऽपि स चीत्कारमपि न करोति ।

द्वितीयः – निश्चयं स पुरुषादः पिशाचः । शिवसहचरः स वेदनां न जानाति ।

तृतीयः – पिशाचं विना कः पाषाणवर्षाणि सोढुं क्षमः ।

द्वितीयः – तदानीं तु सप्राणो न मोक्तव्यः ।

(*वृक्षमूलान्निर्भीकः स्वरः 'क्षमामि सर्वाञ्जीवान् क्षमन्तु ते च मा तथा' ।*)

एकः कुमारः – अरे, स दुष्टः किमपि मन्त्रं पठति । हन्तव्यो झटिति । नो चेदस्मान् सर्वान् भक्षयिष्यति ।

(*पुनरपि कठोरतरं पाषाणवर्षाणि कुर्वन्ति । ततः प्रविशति गोशालकः श्रमणवेषेण ।*)

गोशालकः – विरमन्त्वस्मात्क्रौर्यात् । कथं मारयथेममेकाकिनमप्रतिकारकं जनम् ।

तृतीयः – सोऽस्माकमपत्यानि खादति । नग्नं च विचरति ग्रामे ।

गोशालकः – तद्रक्षापुरुषेभ्यो निवेदयन्तु । अप्रतिकारकस्यासहायस्य ताडने किं शौर्यम् । (*वृक्षमूलं गत्वा*) प्रभो, न भेतव्यम् । समा-गतोऽस्मि रक्षायै । (*साधोः क्षतजं प्रोक्षति ।*)

एकः कुमारः – (*नेपथ्याभिमुखं दर्शयित्वा*) केनापि निवेदितास्तेऽत्रैवागच्छन्ति । (*प्रविशन्ति केचिद्रक्षापुरुषाः सनिगडम् ।*)

तेषामेकतमः – कुतः स चौरः ।

एको जनः – तत्र वृक्षमूल उपविष्टः ।

रक्षापुरुषाः – (*उपसृत्य वृक्षमूलं दिगम्बरं प्रति*) भो दुष्ट, कस्त्वम् ।

किं तेऽभिधानम् । (*वर्धमानो मौनं भजते । तेन रुष्ट एकस्तं ताडयति ।*)

रक्षापुरुषाणामेकतमः - वद, कुत आगतः । कुत्र च गच्छसि ।

द्वितीयः - कथं नग्नश्चरसि ।

(*वर्धमानस्तु मूक इव तिष्ठति । रक्षापुरुषास्तं निगडेन बध्नन्ति । गोशालकस्तान्वारयितुं यतते । अतस्तमपि रज्जुना बध्नन्ति । अत्रान्तरे प्रविशन्ति केचित्सार्थवाहाः । बद्धौ श्रमणौ दृष्ट्वोपसर्पन्ति ।*)

सार्थवाहानां महाजनः - (*वर्धमानमभिज्ञाय रक्षाधिकारिणौ प्रति-*) भो मुच्यतामेतौ श्रमणौ । यो दिगम्बरः स तु वैशालीपतेः कनीयान् भ्राता श्रमणश्रेष्ठो वर्धमानः । श्रमणदीक्षां गृहीत्वा सोऽपरिग्रहमाचरन्पर्यटति मितं च भाषते । (*वर्धमानं प्रति*) महात्मन्, क्षमस्वैषामज्ञानानामपराधम् ।

वर्धमानः - क्षमामि सर्वाञ्जीवान्, क्षमन्तु मा च ते तथा ।

(*भीतभीताः केचित्पुरुषाः वर्धमानस्य पादयोः पतन्ति । रक्षापुरुषा अपि उभयोः निगडं रज्जु चापहरन्ति ।*)

गोशालकः - एवं हि अज्ञातविभूतयोऽवधूयन्ते प्राकृतैः ।

(*केनाप्यानीतेन जलेन मुखं परिमार्ज्य किञ्चिच्च पीत्वा वनाभिमुखं चलितुमारभते वर्धमानः । केचित्पुरुषास्तं वारयन्ते ।*)

एकः पुरुषः - भगवन् मा प्रविशतु घोरं वनम् । चण्डकौशिकनामा चण्डकोपो राक्षसो निवसति तत्र । वनप्रविष्टान्पथिकान्सर्वान् हन्ति स दुष्टः । तेन गृहीतो न कोऽपि जीवितः पुनरायाति ।

(*वर्धमानस्तु पुनरपि क्षमामन्त्रं जपन् सर्वसङ्घं नमस्कृत्य रक्षापुरुषैरपि भगवन् अकारणदुःसाहसेनालम्' इति वारितोऽपि वनमार्गं प्रचलितः ।*)

गोशालकः - (*स्वगतम्*) नियतं स किमपि सिद्धिप्रयोगं करिष्यति । तदनुसरामि तज्ज्ञानाय । (*इति किञ्चिद्दूरपर्यन्तं वर्धमानमनुसरति ।*)

एको वृद्धः - द्वावपि मूर्खौ मृत्यना भ्रामिताववश्यं चण्डमुखं प्रवेक्ष्यतः ।

अन्ये जनाः - अथ किम् । (*इति शिरांसि धुन्वन्ति ।*)

एको रक्षापुरुषः - मानवभक्षकः स चिरेणास्वादितनरशोणितः कदाचित्पुनरपि ग्रामं घर्षयेत् ।

द्वित्रा जनाः -तदानीं तु सावधानेन ग्रामरक्षाप्रबन्धः कर्तव्यः

कतिपयदिनानि ।

रक्षाधिकारी – अद्य रात्रौ तु सर्वे सशक्ता ग्रामजना वनमार्गमवरुध्यात्रैव जागरिष्यन्ति शस्त्रपाणयः ।

एकः पुरुषः – तथैव करिष्यामहे । अथ शस्त्राण्यानेतुं गच्छेम यत आसन्ना सूर्यास्तवेला । (*इति निष्क्रामति ग्रामजनैरन्यैः सह । रक्षापुरुषास्तत्रैव स्थिताः पाषाणखण्डान् संचिन्वन्ति ।*)

एकः पुरुषः – परिव्राजकानां साधूनांश्चरितं को नु विज्ञातुमर्हति । (*एकैकशः पुनः प्रविश्य शस्त्रसज्जा ग्रामजना विविधान्समूहान् रचयित्वावनाभिमुखमुपविशन्ति । अवतरति प्रान्तरे निशान्धकारः । केषांश्चिदलातानां प्रकाशे केचित्स्वपन्ति, केचिज्जाग्रतः कालक्षेपाय निशासुलभाः प्रवृत्तीः कुर्वन्ति । एकैकशोऽलाता निर्वान्ति । कालेन मन्दं मन्दं प्रभाता रजनी । ग्रामजनास्त एकैकश उत्थाय प्रातर्विधये गतागतिकं कुर्वन्ति ।*)

एकतमः – निश्चितं हतौ तौ द्वावपि चण्डकौशिकेन निशान्धकारे ।

द्वितीयः – अथ किम् । विनाशकाले विपरीता भवति बुद्धिः ।

एको रक्षापुरुषः – मध्याह्ने समूहं रचयित्वाऽन्वेषणाय वनं प्रवेक्ष्यामहे ।

तृतीयो जनः – तदवधि रक्षाप्रबन्धो न शिथिलीकर्तव्यः ।

चतुर्थः – साधूक्तम् ।

द्वितीयो रक्षापुरुषः – एकस्याप्यविवेकेन पोतं निमज्जति सागर इति यदुच्यते तन्न निरर्थकम् ।

एको जनः – एतौ तु द्वौ । अतो द्विगुणं विनाशं निमन्त्रयिष्येते । (*हसति ।*)

अन्यतमः – (*प्रविश्य*) पश्यन्तु तत्र दूरे । क एते वनमार्गेणागच्छन्ति ।

रक्षाधिकारी – मध्यमस्तु चण्डकौशिकः । पार्श्वयोश्चरन्तौ द्वावपि श्रमणौ ।

ग्रामजनः – अपि षड्यन्त्रं स्यात् । समीपमागतेषु तेषु समन्तात्परिक्रमामहे येन ते पुनः पलायितुमक्षमाः स्युः ।

अन्यः – मैवम् । कुपितश्चण्डकौशिकः कदाचित्सकलं ग्रामं नाशयेत् ।

तृतीयः – संहतिः कार्यसाधिका । तस्मात्सर्वैरपि रक्षाधिकारिण आदेशा– नुसारं वर्तितव्यम् । यदि ते त्रयो वयं त्रिशतानि ।

(ततः प्रविशतो वर्धमानगोशालकौ चण्डकौशिकं मध्येकृत्वा कियद् दूरत एव ।)

वर्धमानः - श्रुणुत रे रक्षापुरुषा ग्रामजनाश्च । आनीतोऽयं चण्ड-कौशिक आवाभ्यां युष्माभिः सह सन्धिं कर्तुम् । प्रतिजानाति स हिंसात्यागाय । अभयं ददाति च सर्वेभ्यो ग्रामजनेभ्यः । पश्चात्तापपरिशुद्धः स युष्माभिरप्यपेक्षते वैरत्यागम् । *(चण्डकौशिकः सप्रणामं तिष्ठति ।)*

रक्षाधिकारी - कथं विश्वासः कर्तव्योऽस्माभिर्हिंसाचारस्यास्य वचसि ।

वर्धमानः - पणरूपेण तेन सह मासमेकं ग्रामोपान्ते स्थास्ये । एतावता समयेन यदि स भवतो विश्वासं संपादयिष्यति सन्धिः कर्तव्यः । नो चेद् द्वावप्यावां हन्तव्यौ । अवैरेण वैरं शाम्यति । परस्परघातप्रत्याघातेन तु वैरं शाश्वतं भवति ।

गोशालकः - अहमपि साक्षिरूपेण ताभ्यां सह निवसेयम् । यतस्तस्यागमनेऽहमपि सहायकः ।

वर्धमानः - *(सोद्वेगं स्वगतम्)* कथमयं मूर्खोऽलीकभाषणेनैतं शुद्धिप्रयोगं दूषयति । न त्यजति मामद्यापि ।

रक्षाधिकारी - *(ग्रामपञ्चायतेन क्षणं जनान्तिकं विमृश्य)* भवतु । भवद्वचनेन सन्धिप्रस्तावं स्वीकुर्मः । परं मासावधिपर्यन्तं चण्डकौशिकस्य गतिविधी ग्राममुखिना नियन्त्रितव्यौ । ग्रामं च न प्रवेष्टव्यमनेन ।

वर्धमानः - यथेच्छं तथा कुरुत । अद्यप्रभृति स तु श्रावकाचारं पालयिष्यति ।

चण्डकौशिकः - अद्यप्रभृति श्रावकाचारं पालयिष्ये ।

ग्रामजनाः - भगवन्, अजानद्भिस्तव महिमानमिदमस्माभिर्यदविवेक आचरित-स्तत्क्षम्यताम् । *(केचिद्वर्धमानस्य पादयोः पतति ।)*

वर्धमानः - क्षमामि सर्वान् जीवान् क्षमन्तु मा च ते ।
(सर्वे ग्रामाभिमुखं व्रजन्ति ।)

कुमारः - *(वर्धमानमुपसृत्य)* भगवन्, किमपि मन्त्रं पठति भवान् वारंवारम् ।

वर्धमानः - स तु क्षमामन्त्रः प्रथमं सोपानं विश्वबन्धुत्वभावस्य

हिंसाशमनस्य च । यदि त्वमपि जपसि अविलम्बमजातशत्रुर्भविष्यसि । (*संवदमानास्ते सर्वे निक्रान्ताश्चण्डकौशिकं विना । स तु शिरसा भूमिं स्पृष्ट्वा वर्धमानचरणपुण्यरजांसि ललाटे धारयति । पटाक्षेपः ।*)

।। इति दशमं श्यम् ।।

।। एकादशं श्यम् ।।

[*वर्धमानः पर्णास्तरणे वृक्षस्तम्भमाश्रित्य विश्राम्यति । क्षणाच्च तस्य शिष्यौ गौतमानन्दौ प्रविशतः ।*]

आनन्दः - भगवन्नभिवादये ।

वर्धमानः - स्वस्ति ।

गौतमः - अहमपि ।

वर्धमानः - स्वस्ति ।

आनन्दः - किमपि वक्तुकामोऽस्मि ।

वर्धमानः - स्वैरं वद ।

आनन्दः - अद्य भिक्षाटनसमये गोशालको दृष्टः ।

वर्धमानः - अपि वर्धते तस्य तपः । बहूनि वर्षाणि व्यतीतानि गतस्य तस्य ।

गौतमः - स तु गणेश्वरः संजातः । आत्मानं चाजीवकसंप्रदायप्रवर्तकरूपेण घोषयति ।

वर्धमानः - क्षुद्रात्मा सोऽल्पसिद्धिना तुष्टः स्वतपो निष्फलीकरोति ।

गौतमः - स वदति भवान्नेक्ष्वाकुकुलजो वा त्रिशलापुत्रो वा । अपि तु ब्राह्मणवंश्यो देवानन्दाकुक्ष्यो भवान् गर्भसंक्रमणक्रियया राजवंशं नीतः ।

वर्धमानः - यदि तत्सत्यं तर्हि त्वधिको गौरववानस्मीति मन्ये । सद्ब्राह्मणस्तु ब्रह्मपदाय प्रवर्तते । साम्प्रते तु ब्राह्मणा लोभाकृष्टाः ।। कर्मकाण्डमेव पूर्णधर्मरूपेण मन्यमाना आत्मानं समाजं च विनिपातयन्ति । तेनैव च महापदाच्च्युता गर्हणीयदशामनुप्राप्ताः । तत्त्वतस्तु श्रमणो यत्तपसा लब्धुकामः ब्राह्मणस्यापि तदेव गम्यं सज्ज्ञानसाधनया । सदैवावधारय 'न हि सत्येन सदृशमन्यत्तपो जीवस्य विद्यते ।'

आनन्दः - भगवन् तस्य तपस्विवेषो दर्शनहेतुकः केवलमिति मन्ये । कैश्चिद्राजभिः स भवत्प्रवृत्तिनिरीक्षणे नियुक्तो गुप्तचर एवेत्यपि जनापवादः ।

वर्धमानः - (*विहस्य*) जनोक्तिर्बालोक्तिरिव बहुशोऽतिशयोक्तिर्भवति बहिर्गोले दृश्यमानाकृतिवत् ।

गौतमः - कथं स सदैव भवन्निन्दोद्यतो भवति ।

वर्धमानः - तपश्चरणे स आत्मानं मम स्पर्धकं मन्यते । लोलुप-तया तु पुनः पुनः पराजितो द्वेषबुद्ध्यैवाचरत्येवम् ।

आनन्दः - अद्य स मामाहूय सगर्वमवादीन्ममाऽदेशात्कथय ते गुरवे यदि स्वक्षेममिष्यते तर्हि माऽऽह्वयेन्मां 'मंखलीपुत्र' इत्यभिधानेन । सम्बोधनीयोऽहं सदा'आजीवकसङ्घेश्वर' इत्यभिधयैव । नो चेत्कठिनं दण्डयिष्यामि तमिति ।

वर्धमानः - कथं दण्डभयेन मिथ्याप्रशंसयाऽऽवयोर्द्वयोरपि तपः क्षीणोमि । पुनरपि द्रक्ष्यसि चेत्तं वक्तव्योऽसौ मद्वचनात् सङ्घेश्वरस्य न शोभत आत्मप्रशंसा । यदि दर्पभावं न त्यजसि तर्हि नंक्ष्यसि ।

आनन्दः - मूर्खस्योपदेशः कोपाय कल्पते इति ।

वर्धमानः - दययाऽभिभूतोऽहं तं चेतयितुमिच्छामि । अपि तु तिष्ठत्वैषा कथा । अधुना ध्याने तिष्ठेयम् । यत आसन्न मध्याह्नवेला । तद्गच्छ ।

(*वर्धमानः पद्मासनं बद्ध्वा ध्यानपरो भवति । निष्क्रान्तौ च शिष्यौ । अनन्तरं प्रविशतो गोपालकौ गौरेकं पुरो नीत्वा ।*)

एकतमो गोपालकः - (*वर्धमानं दृष्ट्वा*) साधो, एतां गामत्र निधायऽऽवां भोजनाय ग्रामं गच्छावः । आवयोः पुनरागमन-पर्यन्तमेतां प्रतिपालय को हिंस्रपशुस्तां मा घर्षयेदिति ।

(*गां तत्रैव त्यक्त्वा निष्क्रान्तौ । ध्याने रतो वर्धमानस्तस्य वचनमश्रुण्वन्नेव तथैव ध्यानरतः । क्षणादाकाशे वर्षाताण्डवः । वनप्रदेशे निबिडान्धकारः । वर्षान्ते पुनः सूर्यप्रकाशः । वर्धमानस्तु तथैव ध्यानस्थितः । गौस्तु पलायिता । क्षणात्प्रविशतो गोपालकौ । गामदृष्ट्वा वर्धमानमुपसृत्य -*)

प्रथमः - अये साधो, कुत्र मे गौः ।

(*वर्धमानस्तु तथैव ध्यानमग्नो न किञ्चिच्छ्रुणोति । मौनं च भजते । तेन कुपितौ तौ वर्धमानं प्रतिगृह्य विधूनयतः ।*)

द्वितीयः - स एवं न श्रोष्यति । तस्य कर्णौ किलकाभ्यां छेत्तव्यौ ।

(*किलकानानीय वर्धमानस्य कर्णौ विध्यतः । रुधिरं वहति कर्णाभ्याम् । तथाऽपि वर्धमानस्तु यथापूर्वं स्थितः । तेन कुपितौ गालिप्रदानमारभतः ।*)

द्वावपि - चोर, कपटसाधो, चाण्डाल, देहि नौ गौः ।

(*अनन्तरं प्रविशति कश्चिद्देवपुरुषः । गोपालकयोर्गालिप्रदानं श्रुत्वोपसृत्य वर्धमानकर्णयोर्वहद्रुधिरं द्रष्ट्वा गोपालकौ निर्भर्त्सयन्* -)

देवपुरुषः - धिङ् मूर्खौ किं कृतमेतत् । नाभिजानीथ एनं महात्मानम् । राज्ञो नन्दिवर्धनस्य भ्राता वर्धमानोऽयम् । तत्पलायेथामितो यावत्कश्चिद्रक्षापुरुषः समायाति ।

(*द्वावपि भीतभीतौ पलयितौ । पश्चात्स कर्णाभ्यां कलिकौ निष्कासति । वर्धमानः सचीत्कारं मूर्छां नाटयति । पुरुषो वर्धमानस्यकर्णयोर्वनस्पतिरसं निःस्यन्दति । ततः प्रविशतौ गौतमानन्दौ । तौ वर्धमानं मूर्छितं वीक्ष्य शुश्रूषामारभेते ।*)

देवपुरुषः - (*वर्धमानं प्रति* -) परिसमाप्तान्तिमपरीक्षा । अचिरेण देहबन्धनान्मुक्तो स्वैरं विचरिष्यसि । (*इत्युक्त्वा निष्क्रान्तः ।*)

(*पटाक्षेपः ।*)

।। इति एकादशं श्यम् ।।

।। द्वादशं श्यम् ।।

[*इन्द्रसभायामप्सरसां नृत्यविलासः। नृत्यावसाने प्रविशति नारदः ।*]

नारदः - (*प्रविश्यैव-*) नन्दध्वं देवा आनन्दध्वम् ।

इन्द्रः - देवर्षे सुस्वागतम् । कीदृशीं सुवार्तामानयति मुनिर्नारदः ।

नारदः - अद्य वैशालीकुमारो वर्धमानो निर्ग्रन्थत्वं प्राप्तः ।

द्वित्रा देवाः - किं किमिति ।

नारदः - घोरतपश्चरणेन देहबन्धनान्मुक्तः सोऽधुना विचरति त्रिभुवनम् । पश्यत, सर्पत्वचमिव तनुं त्यक्त्वा वियति विचरति हंसगतिरेषः ।

सर्वे देवगणाः - (*नेपथ्याभिमुखं दृष्ट्वा*) आश्चर्यमाश्चर्यम् । आनीयतां स देवसभायाम् ।

इन्द्रः - स्वर्गगमनायापि स साधनामार्गतो न विचलिष्यति । पश्यत पुनः स्वकायां प्रविश्योचितपुद्गले दृष्टिं संयोज्य स ध्याने स्थितः । एतादृशं साहसं देवानामपि दुर्लभं किं पुनर्मानव-शरीरधारिणाम् । अतः सोऽद्यप्रभृति महावीर इति नामाभिधानेन त्रिलोके प्रसिद्धो भविष्यति ।

सङ्गमो नाम देवः - सुरेन्द्र, नामर्यादमानार्हा मनुष्याः । जानीमो ययातिनहूषचरिते । स्वल्पसिद्धिनापि त गर्वोन्मत्ता भूत्वा पुनरप्यधमां गतिं प्राप्नुवन्ति ।

इन्द्रः - अयं त्वनुपमजीवो जिनेश्वरत्वं प्रेप्सुः ।

सङ्गमः - यद्यनुज्ञां ददाति देवराजः परीक्ष्ये तस्य सहिष्णुतां संयमं च ।

इन्द्रः - नाहमुर्ध्वगतिं किञ्चित्सत्त्वं पातयितुमुत्सहे ।

नारदः - अपि विस्मरति देवराजो यत्तेन तपस्विनाऽऽदावेव प्रतिज्ञातमस्ति एकाकी विचरिष्ये स्वपुरुषार्थेन हि च सिद्धिं लप्स्य इति ।

इन्द्रः - ततः किम् ।

नारदः - तत्सङ्गममनुजानातु परीक्षायै । माऽवसरं देहि तस्य द्वेषिणो गदितुं यदिन्द्रसाहाय्येन तस्य सिद्धिलाभो न चात्मशक्त्येति ।

इन्द्रः - भवतु । सङ्गमोऽपि पापबुद्धेर्विफलतामनुभवतु । (*इत्यासनादुत्थाय निष्क्रान्तः ।*)

सङ्गमः - विना विलम्बं प्रयतिष्ये साध्यसिद्धये । (*इति सोऽप्युत्तिष्ठति।*)

नारदः - (*सङ्गममुपसृत्य*) गोशालकस्ते सहायो भविष्यति ।

सङ्घेश्वरोऽहमिति मन्यमानो स आत्मानं वर्धमानप्रतिस्पर्धिरूपेण पश्यति ।

सङ्गमः - उपकृतोऽस्मि मार्गादेशाय ।

अन्यो देवः -

लभेत सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीडयन्
पिबेच्च मृगतृष्णिकासु सलिलं पिपासार्दितः ।
कदाचिदपि पर्यटन् शशविषाणमासादयेत्
चलेन्न तु मनस्विनां मन उ कर्मपथात्क्वचित् ।।२२।।

सङ्गमः - द्रक्ष्यामः ।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

।। इति द्वादशं श्यम् ।।

।। त्रयोदशं श्यम् ।।

[*निबिडे वृक्षमूल उपविष्टो भगवान्महावीरो विचारमग्नः । मन्दस्मितेन व्याप्तं मुखमण्डलं तस्य । क्षणात्प्रविशत्यानन्दः ।*]

आनन्दः – आश्चर्यमाश्चर्यम् ।

महावीरः – किमिव ।

आनन्दः – जानात्येव भवान् क्षणादागमिष्यति स चण्डकोपो गोशालकस्त्वां घर्षयितुम् । तत्केन प्रसादेनैवं शिवचूडास्थितश्चन्द्र इव स्मितांशून् विकिरसि सर्वासु दिक्षु ।

महावीरः – तत्किं करणीयं मया यदभिप्रेतम् ।

आनन्दः – स्वरक्षाप्रबन्धश्चिन्तनीयः । स त्वां स्वगृहीतलिङ्गं कथयित्वा गालिं ददाति । आत्मानं च सर्वज्ञं सर्वदशिनं तीर्थंकरमाजीवक संप्रदायप्रवर्तकञ्च घोषयति । सदर्पः स भवन्तं दण्डयितुकाम आगच्छतीति ज्ञात्वाऽपि कथं शान्तभावेन स्थीयते ।

महावीरः – (*सस्मितम्*) क्रोधस्यौषधं प्रसन्नता । पुनश्च न जानासि त्वमावयोरतीतं तस्मादेवं वदसि ।

आनन्दः – यद्यगोपनीयं तर्हि ज्ञातुकामोऽस्मि ।

महावीरः – भवतु । श्रृणु सावधानेन । कतिचिद्वर्षपूर्वं गोशालकोऽयं परमश्रद्धया मामन्वसरद्देहच्छायेव । विजने योगसाधनाऽधीरोऽहं तस्य मानसीं भर्त्सनामकुर्वन् । तिरस्कारं सहमानोऽपि स मे परिचर्यामकरोत् । तस्माद्वियोगहेतुना प्रविष्टोऽहं चण्डकौशिकवनम् । तत्राऽपि स एवैकः कुन्तीपुत्रं श्वेव मामन्वगात् । तथाप्यहं तिरस्करणं नामुञ्चम् । कालस्य गतिं स्मरन्नद्य मे पापप्रतिक्रमणं भवेदिति नन्दामि ।

आनन्दः – अधुना तु स भवतोऽप्यात्मानं महत्तरमहिमानं मन्यमानो द्वेष्यभावेन त्वां पराजेतुमागच्छति ।

महावीरः – तेन तु प्रवेगेन मे प्रतिक्रमणं भवेदितीष्टापत्तिः ।

आनन्दः – तस्मिन्नागते कथं वतिर्तव्यमस्माभिः ।

महावीरः – सर्वैः केवलं गृहीतमौनैः ।

आनन्दः – अथ स त्वां घर्षयेत् ।

महावीरः - तथापि मूकभावेन हि द्रष्टव्यं सर्वम् । अनेन मौनस्य सर्वा-र्थसाधनरूपां दुर्घर्षां शक्तिं प्रत्यक्षीकरिष्यथ । अन्यानपि श्रमणांस्तथैव निवेदय ।

आनन्दः - यदाज्ञापयत्याचार्यः । (*इति निष्क्रान्तः ।*)

महावीरः - (*स्वगतम्*) अद्य मे सुमहानवसरः । अन्तर्गुहायां निगूढ-भावेन स्थितं क्रोधरूपं मे पापबीजं विनश्येदद्य प्रतिक्रमणक्रियया । अरे गोशालक, नास्ति मे तव समो बन्धुः । त्वत्क्रोधविषं पातुं ध्यानपरो भवामि । (*इति नेत्रे निमिल्य पद्मासने स्थितः ।*)

(*ततः प्रविशति चण्डकोपो गोशालकः सङ्गमेन सह ।*)

सङ्गमः - (*महावीरं दर्शयित्वा*) एष उपविष्टः स दाम्भिको वटवृक्ष-मूले बकध्याने ।

गोशालकः - न जानाति स मे नवप्राप्तप्रभावम् । नाऽहं पुराण-गोशालको यस्तमनुचर इवान्वगच्छत् क्रीतदासवत् । अद्य तु पराजित्य तं पादयोः पातयामि । (*महावीरमभिगच्छति ।*)

(*ततः प्रविशतौ द्वौ श्रमणौ ।*)

प्रथमः - भो सुनक्षत्र, आनन्दोऽब्रवीत् शक्रपार्श्वचरसङ्गमद्वितीयो गोशालको दर्पात्पराजेतुं महावीरं वनं प्रविष्टः । तदहमेतयो महारथिनोर्द्वन्द्वमप्यनुभवेयम् ।

द्वितीयः - भो सर्वानुभूते, अभिमानो मूलं महापातकानाम् ।

सुनक्षत्रः - तथापि गुरोर्निर्देशादत्रैव निःशब्दं तिष्ठावः । (*इति कस्यापि विशालवृक्षस्य पार्श्वे तिष्ठतः । दूराद्धि गोशालकं दृष्ट्वा चेष्टया हि परस्परं दर्शयतः ।*)

गोशालकः - (*महावीरमुपसृत्य*) भो भो निरर्थकगृहीतश्रमणाचार, एषोऽहमाजीवकसंप्रदायप्रवर्तको जगद्गुरुस्त्वामुपदेष्टुं समागतोऽस्मि ।

महावीरः - (*नेत्र उन्मील्य*) भो मंखलीपुत्र, जानास्येव न मे गुरोरपेक्षा ।

गोशालकः - भो मिथ्यावादिन्, न जानासि किं नाहं मंखलीपुत्रः ।

महावीरः - छद्मस्थ, किमात्मानं जगच्च वञ्चयसि ।

गोशालकः - ब्रवीमि ते । नष्टः स मंखलीपुत्रः । परिषहक्षमं तद्देहं दृष्ट्वा सर्वज्ञो जिनेश्वरोऽहं तं प्रविष्टः ।

महावीरः - किं प्रमाणम् ।

गोशालकः - पश्य क्षणादेव ममेच्छया झञ्झावातः प्रवास्यति । (*सङ्गममिङ्गते । तेन प्रेरितः प्रवातः समुपस्थितः । महापादपानप्यु-न्मूलयितुकामो नभश्च पृथिवीं च व्यनुनादयति ।*)

सुनक्षत्रः - भो सर्वानुभूते, भृशं बिभेमि निनादेनानेन ।

सर्वानुभूतिः - सुनक्षत्र, मायोत्थिता भूतप्रकोपा आगमापायिनः । तन्मा भैषीः । पश्य, गुरुरस्माकं मुक्तहासेनोपहसति दारुणमिमम् ।

महावीरः - एषस्त्वन्यप्रभावः स्यान्न मंखलीपुत्रस्य ।

गोशालकः - अधुना महावृष्टिर्भविष्यति ।

महावीरः - अनु क्रोधगर्जनमश्रुवर्षामिव ।

गोशालकः - श्रमणाधम, किमधुनाऽपि न स्वीकरोषि मे प्रभावम् ।

महावीरः - सर्वासां घटनानां बहूनि कारणानि सम्भाव्यानि सप्तभङ्गिन्यायेन । यावत्कैवल्यज्ञानं न प्राप्यते तावदस्माकं सर्वेषां ज्ञानं सापेक्षमेव । अतश्च कल्पनमात्रम् ।

गोशालकः - आकाशाच्छस्त्रवर्षं करिष्यामि ते मस्तके ।

महावीरः - काष्ठपुत्तलशौर्यं तु सूत्रधाराङ्गुलिवैदग्ध्यं केवलम् । दीर्घ-कालोऽयं सहचर इति कृत्वा त्वया संभाषणं कृतं मयैतावत् । अधुना तु मौनमेवाश्रये । शस्त्रवर्षं पुराकृतपापस्य परिक्रमणमिति मत्त्वा सानन्दमभिनन्दामि । (*इति मौनं स्थितः पद्मासने ।*)

गोशालकः - मा दम्भमाचर । तर्काभावेन मौनमेव बलं बालानाम्। दुष्ट, न स्वीकरोषि चेन्मे प्रभावं भुञ्जीथाः कर्मणस्ते फलम् । (*पुनरपि सङ्गमं सूचयति । कियत्कालं शरवर्षं भवति । परं महावीरसमीपमेत्य शराणि शिथिलीभूत्वा तस्य चरणयोर्निपतन्ति । विफलीभूतो गोशालकः क्रोधाध्मातः पुनः गालिप्रदानमारभते ।*) मिथ्याचार, महामूर्ख, महिष - (*सुनक्षत्रसर्वानुभूती गोशालकमुपसर्पतः ।*)

सर्वानुभूतिः - न युक्तमेवं गालिप्रदानं गुरवे ।

गोशालकः - मूर्ख, कीदृशं ते धृष्टत्वं यत्त्रिकालज्ञं मामुपदेष्टुं कामयसे ।

सर्वानुभूतिः - त्रिकालज्ञा अपि न जानन्ति निजं भावि । अपिच बालोऽपि जानाति गुरुनिन्दा महापापमिति ।

गोशालकः - मूर्खस्त्वम् । मुर्खतरस्ते गुरुः । यद्यात्मनः श्रेयः कांक्षसि मे शरणमागच्छ ।

सर्वानुभूतिः - मूर्खोऽहं, मूर्खतरो मे गुरुः, मूर्खतमस्तु भवान्यदशिक्षित इव - (*इत्यर्धोक्ते* -)

गोशालकः - दुर्बुद्धे, पुनः पुनः प्रतिवदन्तं त्वामनया तेजोलेश्यया भस्मसात् करोमि । (*इति नेत्राभ्यां तेजोलेश्यां मुक्त्वा हन्ति सर्वानुभूतिम् । तेन क्रुद्धः* -)

सुनक्षत्रः - भो श्रमणघातिन्, किमर्थमनर्थमाचरितं त्वया ।

गोशालकः - त्वमप्यनुभवात्मनश्चापल्यफलम् । झटिति चानुसर ते सङ्गतं यमद्वारम् । (*पुनरपि तेजोलेश्यां मुञ्चति ।*)

सुनक्षत्रः - न भीतो मरणादस्मि । सावधानं तु करोमि । त्रिविधं नरकद्वारं कामो मोहस्तथा क्रोधः । (*भूमौ पतति विगतप्राणः ।*)

आनन्दः - (गौतमेन सह *प्रविश्य स्वगतम्*) आः, गुरोराज्ञाया उल्लंघनस्य कीदृशोऽयं विपाकः ।

गोशालकः - (*तेजोलेश्याप्रयोगसाफल्येन महावीरं प्रति* -) अधुना तव वारम् । क्षणार्धेन पादयोः पतित्वा क्षमायाचनां कुरु पूर्वानादरस्य । नो चेद्धन्तव्योऽसि मया । (महावीरो मूकस्तिष्ठति ।)

गोशालकः - न करोषि मे वचनं तर्हि त्वमपि गृहाण । (*इति महावीरे तेजोलेश्यां क्षिपति । सा तु प्रदक्षिणीकृत्य महावीरं तस्य चरणे नष्टा । गोशालकः क्षणं स्तब्धस्तिष्ठति । पश्चात्*) आः पाप, दैवयोगेन रक्षितोऽधुना षण्मासाभ्यन्तरे महाकष्टमनुभूय मरिष्यसि ।

महावीरः - भो नियतिवादिन्,

सर्वे ज्योतिषशास्त्रज्ञाः परभाविनिदर्शकाः ।
स्वभविष्यं न पश्यन्ति स्वपृष्ठं मनुजा इव ।।२३।।

तन्मैवमात्मानं वञ्चय । अहं त्वद्यापि षोडशवर्षाणि गन्धहस्तिरिव स्वैरं विचरिष्याम्यवनीम् । त्वमेव पुनस्तेजोलेश्याप्रयोगेन सप्तरात्र्यन्तरेऽन्तर्दाहेनाक्रान्तोऽज्ञावस्थायामसिद्धार्थ एव कालधर्मं प्राप्स्यसि । (*गोशालको वज्राहत एव तिष्ठति । प्रतिष्टम्भ-तनुरश्रूणि मुञ्चति । सङ्गमोऽपि भीतभीतो बहिर्निष्क्रम्य*

महावीरस्य चरणौ गृह्णाति । महावीरस्तमुत्थापयति ।)

सङ्गमः – भगवन्, अभूतपूर्वा ते धृतिः संयमश्च । देवराजेन कृता ते प्रशंसा यथार्थैव । सत्यप्रतिज्ञस्त्वं विजयी । भग्नप्रतिज्ञोऽहं पराजितः । अद्यप्रभृति ते सहायो भविष्यामि दैवापत्तिषु ।

महावीरः – नाऽहं तप आचराम्यन्यबलापेक्षया । तथापि स्वीकरोमि भवत्सद्भावम् ।

सङ्गमः – सार्थकं ते महावीराभिधानम् । दृढमाशासे त्वमस्मिन्नेव जन्मनि तीर्थंकरत्वं साधयिष्यसीति । (*पुनरपि प्रणम्य निष्क्रान्तो गोशालकेन सह ।*)

गौतमः – आचार्य, यद्यनुज्ञाऽस्ति किमपि प्रष्टुकामोऽस्मि ।

महावीरः – निर्बन्धं पृच्छ ।

गौतमः – केन विधिना शक्तो भवानस्यैताङ्घोरान् परिषहाँल्लीलया सोढुम् ।

महावीरः – गोपनीयमेतद् । तथापि त्वां कथयिष्ये । यतस्त्वमसि मे श्वसनं द्वितीयम् ।

गौतमः – अनुगृहीतोऽस्मि । अनेन प्रेम्णा द्रवीभूतं मे हृदयम् ।

महावीरः – देहोत्सर्गेन लीलया सह्यन्ते सर्वे परिषहाः । यस्मिन्देहे नास्ति मे स्थितिस्तस्य मात्रास्पर्शैर्मे सम्बान्ध एव नास्ति । पुनः प्रवेशे तु देहेऽनुभाव्यत एक आघातमात्रः ।

गौतमः – यदि मन्यसे मेऽधिकारः –

महावीरः –स तु कृच्छ्रप्रयोगो न सर्वेषां कल्याणाय । प्रत्यक्षीकृतेव त्वया गोशालकावदशा । पुनश्च न तज्ज्ञानमावश्यकम् ।

गौतमः – (*सखेदम्*) भवदाज्ञा शिरोधार्या ।

महावीरः – मा खेदं कुरु । मामन्वसरस्त्वं जन्मनि जन्मनि । चिरं च मे सहयोगी । अत इतोऽपि स्वायुरन्ते समं पदं गमिष्याव उभावपि ।

उभौ – धन्यौ स्वः भवदाश्रयेण ।

महावीरः – तेन गुरुणा किं योऽध्यात्मभूत्या शिष्यमात्मसमं न करोति । अधुना तु मनःसमाधानायैकान्तमिच्छामि । (*निष्क्रान्तौ गौतमानन्दौ । महावीरः शान्तमुद्रया उपविशति । पटाक्षेपः ।*)

।। इति त्रयोदशं श्यम् ।।

।। चतुर्दशं श्यम् ।।

[*महावीरः कदम्बवृक्षच्छायां ध्यानस्थ उपविष्टोऽपराह्णसमये । क्षणादेव ध्यानभङ्गेन सह -*]

महावीरः - भो गौतम, कुत्रासि ।

गौतमः - (*प्रविश्य*) भगवन् अयमहम् ।

महावीरः - वत्स, द्वयोः शिष्ययोरप्राकृतमृत्युना विगलितहृदयोऽहं त्वां विशिष्टे कार्ये नियोक्तुमिच्छामि । श्रुण्ववधानेन ।

गौतमः - भगवन्, अवहितोऽस्मि । आज्ञापयतु भगवान् ।

महावीरः - सर्वानुभूतिस्तु यथार्थनामा सर्वसुखदुःखमनुभूय पापपुण्यानि च कृत्वा वीरगतिं प्राप्तो न शोचनीयः । सुनक्षत्रोऽपि मृतो सुनक्षत्रे प्राप्स्यत्युत्तमां गतिम् । परं तस्य वृद्धमाता सर्वथाऽनु-कम्पनीया । तस्माद् गन्तव्यं त्वया राजगृहं तस्याः सकाशं सान्त्वनार्थम् । मम वचनाच्चादेष्टव्यो महाजनो यत्सर्वथा सुरक्षणीया सुनक्षत्रमाता ।

गौतमः - गुरोराज्ञा विना विवादं शिरोधार्या तथापि शङ्कते मे मनः । न तेजोलेश्याऽभिहतोऽप भगवान्कदाचित् - (*इत्यधोक्ते*)

महावीरः - कदाचित्तव परिचर्यां कांक्षति । अपितु जानीहि । न तीर्थंकरत्वमाप्यते पराश्रयिणा ।

गौतमः - क्षन्तव्यो मेऽपराधः । तथाप्यपरं किमपि प्रष्टुकामोऽस्मि ।

महावीरः - पृच्छ्यताम् ।

गौतमः - केन कारणेनादोषौ तौ प्राप्तावीदृशीं गतिम् ।

महावीरः - गुरुस्नेहमोहितौ द्वावपि गुरोरेवादेशमवमान्य स्वप्रारब्धं प्रापद्येताम् ।

गौतमः - कथं न निगृहीतौ भवता ।

महावीरः - कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके प्रकृतिं यान्ति भूतानि । तत्र निग्रहः किं करिष्यति । गतौ तौ निश्चयं प्राप्स्यतः सद्गतिम् ।

गौतमः - ज्ञातम् । परं भगवानपि कथं तेजोलेश्याग्निना पीडितः ।

महावीरः - ममापि तादृगेव स्खलनम् ।

गौतमः - कल्पनातीतम् -

महावीरः - मयापि मौनं स्थातव्यमासीत् । सङ्गमादयो देवास्तु

कदाचिन्मां निर्वीर्यं कलयिष्यन्ते, धरातले वा मनुष्या ममाकर्मण्यत्वं पराजयं मन्यमाना अहिंसामार्गमुपहसेयुरिति कृत्वा मौनं त्यक्त्वा मया तेन वादः कृतः । पूर्वजन्मकर्मणा मोहितोऽहं मौनसंकल्प- ममुञ्चमिति मे दोषः ।

गौतमः - तथापि -

महावीरः - न तथापि चित्रं किञ्चिदत्र । सीतायाः परिरक्षणार्थं स्वधर्मंपालयन्नपि रावणं हत्वा रामस्तस्या एव विरहेण भृशं संतापितः ।

गौतमः - गहना कर्मणो गतिः । (*अनन्तरं हतवीर्य इव करुणस्वरेण*) देव, न जानामि कथमिव । त्वत्तस्तु वियुज्यमानस्य मे मनः विपरीतं शङ्कते । सीदन्ति मे गात्राणि । पदमपि गन्तुं नोत्सहे ।

महावीरः - क्लैब्यं मा स्म गमः । नैतत्त्वय्युपपद्यते ।

गौतमः - पुनरपि न कदापि त्वां द्रक्ष्यामीति मत्वा रोदितीव मे हृदयम् । तद् गमनपूर्वं मे सम्यज्ज्ञानं बोधय ।

महावीरः - अकालवर्षा न फलदायिनी । पुनश्च तेजोलेश्यादोष- दूषितोऽहमधुना नोपदेशक्षमः । अष्टाहव्रतमाचरित्वाऽदोषो भवेयम् । त्वया तु तत्कालमेव गन्तव्यम् ।

गौतमः - (*सखेदम्*) अभागोऽहम् ।

महावीरः - मैवं वद । मया कथितपूर्वमेव यत्त्वया सहाद्वैतभावेन जीवामि । यथासमयमनुपदिष्टोऽपि मया सार्धं कैवल्यं प्राप्स्यसि ।

गौतमः - अनुगृहीतोऽस्मि । तव वचनं मे दग्धस्य दधिलेप इव शान्तिप्रदम् । तदाज्ञापयतु गमनाय । (*साष्टाङ्गनमस्कारं करोति ।*)

महावीरः - श्रद्धावान् शोकरहितश्च भूत्वा गच्छ । शिवास्ते पन्थानः सन्तु । (*निष्क्रन्तो गौतमः ।*) अष्टाहव्रतसङ्कल्पो ध्यानाय निबिडतरं प्रविशामि । (*निष्क्रान्तः ।*)

।। इति चतुर्दशं श्यम् ।।

।। पञ्चदशं श्यम् ।।

[*ग्रामोपान्ते जीर्णालये द्वितीयप्रहरे पर्यटति महावीरो विचारमग्नः । प्रविशत्यानन्दो भिक्षापात्रसहितः ।*]

महावीरः - अथ पूर्णो वर्षावासः । तत्तृतीयप्रहरे प्रस्थातव्यम् ।

आनन्दः - भगवन्, ह्यस्त्वमभाषथाः 'अयं भगवतोऽन्तिमवर्षावासः' । तस्माद् गमनपूर्वमुपदेशाय समुत्सुकोऽस्मि ।

महावीरः - नास्ति मुहूर्तमद्य ।

आनन्दः - (*सरोषम्*) एवमेव निवारितो भवता गौतमः षोडश-वर्षैरपि न प्रतिनिवृत्तः । भवानेव पूर्वमकथयः सत्कार्यें न मुहूर्तमपेक्षते । तत्कथमेवं वदति भवान् ।

महावीरः - शीघ्रं ज्ञास्यसि ।

आनन्दः - कदा मुहूर्तमेष्यति ।

महावीरः - कतिपयैरेव दिनैः ।

कश्चिच्छ्रमणः - (*प्रविश्य*) भगवन्, कांक्षति भवद्दुहिता दर्शनं प्रियदर्शना भर्त्रा जमालिना सह ।

(*तदनन्तरं प्रविशति प्रौढत्वं प्राप्ता सभर्तृका प्रियदर्शना भर्तृणा सह । प्रविशन्त्येव 'तात' इत्युक्त्वा महावीरस्य पादौ गृह्णाति । जमाली दूरत एव प्रणामं करोति ।*)

महावीरः - (*प्रियदर्शनामुत्थापयन्*) अतिस्नेहो दुःखजनकः ।

प्रियदर्शना - (*सस्मितम्*) नाहं निर्ग्रन्थीभूताऽद्यापि ।

जमाली - किमवशिष्टम् । भगवन्, बहुशो वारिताऽपि कृच्छ्रं तपति तपो वारंवारम् । एतावत्पर्यन्तं यदनेकवारं गृहिणीधर्ममपि विस्मरति । किञ्चिद् बोधयितुमर्हति भगवान् ।

महावीरः - नाहं तां बोधयितुं क्षमः ।

जमाली - भवत एव दुहिता सा । पुनश्च भवतैवारोपितं वैराग्यबीजं तस्या हृदये ।

महावीरः - निर्ग्रन्थस्य तु सर्वे जीवाः समानाः । पुनश्चात्मोद्धाराय तपस्यन्त्यास्तस्या मार्गाविरोधं कथं करोमि ।

जमाली - (*सस्मितम्*) दुहितुः पक्षो न कर्तव्योऽर्हता ।

प्रियदर्शना - (*सस्मितम्*) न च पौरुषकारणेन जामातुः । (*जमालीं*

प्रति) जानामि ते कुतर्कम् ।

जमाली – (*तामवगणयन्नेव*) स्त्रीणां श्रमणत्वं न युज्यते । यतो गृहिण्येव गृहमुच्यते । गृहस्थाश्रमश्चान्याश्रमाणां पालने क्षमः ।

प्रियदर्शना – तथैव गृहस्थाश्रम एव सर्वकामानां वृद्धिबीजम् ।

जमाली – मुनिवृत्तिस्तु वार्धक्ये शोभते ।

महावीरः – निःश्रेयसे न कापि सापेक्षता योग्या वा कार्यसाधिका वा । संसारस्य निःसारतां दृष्ट्वा यत्क्षणं हि मनो वैराग्यं प्राप्नुते तत्क्षणमेव मोक्षमार्गे यात्रारभते तत् । प्रतिक्रमणक्रियां रोद्धुमशक्यत्वात् ।

जमाली – तथापि नित्ये सति संसारे संसारिणां जीवानां दुःखानि वर्धितुं न युक्तं श्रमणाचारैः स्वार्थहेतवे ।

महावीरः – एतच्चिन्तनार्हम् । पुनश्च सर्वभूतानामीश्वरत्वबोधेन जीव ईश्वरत्वं प्राप्य जगतोऽधिकं श्रेयः करिष्यतीति न संशयः । तद् द्वयोर्मध्ये समाधानमन्वेष्टव्यम् । कदाचित्तपसां द्वौ प्रकारौ विमर्शयितव्यौ क्षमाधृतिवर्धनहेतुकं पराज्ञप्तिहेतुकं वेति । तथैव श्रमणश्रावकाचारभेदोऽपि करणीयः । विचारयिष्ये ।

जमाली – अतितपश्चरणात्तस्याश्चित्तभ्रमो न स्यादिति भवत्समीपमानीता सा । भगवांस्तु पुनः –

आनन्दः – संसारेऽस्मिन् द्वे निष्ठे प्रवर्तेते । सांसारिकाणामेका वीतरागाणा–मन्या ।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।।२४।।

इति व्यासवचनम् । संसारिणामर्थकामावेव पुरुषार्थौ वीतरागाणां धर्ममोक्षौ ।

प्रियदर्शना – (*विहस्य*) द्वावपि परस्परं भ्रान्तचित्तावेव मन्येते ।

महावीरः – न हि । धर्ममोक्षौ जीवमात्राणां पुरुषार्थौ भवितुमर्हतः । पूर्णोपदेशाय तु कतिपयदिनानि प्रतीक्षा करणीया ।

(*तत्क्षणमन्तरिक्षादेकः शरस्तेजोमयो महावीरपादयोः पतति । सर्वे चकितचकितं पश्यन्ति । महावीरानुज्ञया जमाली शरमुद्धृत्य विलिखितान्यक्षराणि पठति ।*)

जमाली - भगवन् योगाचार्योऽद्य प्रभाते तनुमत्यजद्योगेन । पुनश्च महावीरेण मौनं त्याज्यं लोकसंग्रहाय ।

महावीरः - (*आनन्दं प्रति*) भिक्षान्नं बलिरूपेण पशुभ्यो दीयताम् । अद्य मे प्रायोपवोनम् । (*नेत्रे निमील्य पद्मासन उपविशति। अन्ये च सर्वे मौनं गृह्णन्ति । पटाक्षेपः ।*)

।। इति पञ्चदशं श्यम् ।।

।। षोडशं श्यम् ।।

[*पुरस्य वीथिकायां गतागतिकं कुर्वतां जनानां संमर्दः ।*]

प्रथमः – (*अन्यं प्रति*) कुत्रैव त्वरयसे भद्र ।

द्वितीयः – कथमज्ञान इव पृच्छसि । न जानासि किं राज्ञा हस्ति–पालेन रचिते समारम्भे बोधयिष्यत्यद्य भगवान्महावीरः ।

प्रथमः – मन्ये वञ्चितोऽसि केनाऽपि विदूषकेन शशशृङ्गमिव कथावस्तुना ।

द्वितीयः – किमेवं वदसि ।

(*तौ दृष्ट्वा मित्रमेकमुपस्थितम् ।*)

प्रथमः – भगवान्महावीरो नोदरंभरी श्रमणो य उदरपूरणार्थं यत्रातत्र त्यागस्य महिमानं गायन् पर्यटति । एतावन्ति वर्षाणि मौनं गृहीत्वा न सोऽधुना राजसभायामुपदेक्ष्यति ।

द्वितीयः – यदि न प्रमाणं मम वचनं तर्हि पृच्छत्विमं कपिलम् ।

(*आगन्तुकं दर्शयति ।*)

कपिलः – कौशिकस्तु जन्मतः शङ्काशीलः । परं नासत्यं वदति धुम्मिलः ।

धुम्मिलः – राजाज्ञोद्घोषकेन नगरघोषणायामुद्घोषितं यत्तेन महात्मना स्वीकृता निष्ठावद्भिर्जिज्ञासुभिः कृता प्रार्थना ।

कपिलः – प्रथमं तु महावीरो निराकरोन्महाराजप्रस्तावमेवमुक्त्वा यन्न कैवल्यं लभ्यते प्रवचनेन । यथा पक्वान्याम्रफलानि स्वयमेव पतन्ति वृक्षाद्यथासमयं तथैव गलितकर्मबन्धो जनः स्वयमेव कैवल्यं प्राप्स्यति केनाप्यबोधितोऽपि । अपक्वेषु पातितेषु तु को लाभः । अनिर्ग्रन्थस्य तु प्रवचनेन किम् । अपि तुतत्रभवतो जामाता मेधावी जमाली तत्रोपस्थित आसीत् । स प्रत्यवदत् 'घर्मांशोः किरणास्त्वरयन्ते पक्वताम् । ज्योतिषो हि ज्योतिः प्रज्वलति ।' तदा भगवानवोचत्सस्मितं – 'नाहं तर्कपटुर्नैयायिकः । तत्पूरयिष्येऽनेकजिज्ञासुनां मनोवाञ्छितमि'ति ।

कौशिकः – तदानीं त्वहमपि सङ्गमिष्ये । कुत्र रचितः समारम्भः ।

धुम्मिलः – प्रसिद्धे पावापुरीतडागतटे विरचितो विशालो सभामण्डपः । अनेके राजानश्चाहूताः । तल्लघुलघु गच्छामः । नो चेद्–ङ्गुष्ठमात्रमपि स्थानं न लप्स्यामहे । (*निष्क्रान्ताः सर्वे ।*)

।। इति षोडशं श्यम् ।।

।। सप्तदशं श्यम् ।।

[*पावापुरीतडागस्य तीरे विशाले सभामण्डपे जनानां सुमहतः समुदायस्य तुमुलो कलरवः । केचन रक्षकास्तत्र व्यवस्थितिसंपादनार्थं यतन्ते ।*]

एको रक्षकः - स्वस्वस्थानं गृह्णन्तु सर्वे सभाजनाः । शीघमा-गमिष्यति महाराजद्वितीयो भगवान्महावीरः ।

एकः सभाजनः - एतत्तु चतुर्घटिकाकालाद्वयं श्रुणुमः ।

द्वितीयो रक्षकः - मा चापलं कुरु । नो चेन्निष्कास्यसे ।

तृतीयो रक्षकः - (*नेपथ्याभिमुखमवलोक्य*) एष समायाति वैशालीपतिः । एष महाराजो बिम्बिसारः ।

(*प्रविशन्ति केचन राजानः ।*)

केचिज्जनाः - जयतु जयतु वैशालीपतिः । (*केचिज्जनाः स्वस्थान उत्तिष्ठन्ते ।*)

रक्षकाः - मा त्यजतामासनम् । उपविशन्तु स्वासनं सर्वे ।

एको रक्षकः - एष भगवान्महावीरः .....

(*जनसंमर्दः 'भगवान् महावीरो विजयतेतराम्' इति जयघोषं करोति । तत्प्रतिघोषः सर्वदिशो वारंवारं व्याप्नोति च । महाराजो बिम्बिसारो हस्तिपालः श्रमणो महावीर इत्यादयो महानुभावा मञ्चमारोहन्ति । महावीरो बद्धाञ्जलिस्तिष्ठति । महाराज उभयहस्तोत्थापनेन क्रमेण जयघोषः शान्तो भवति । महाराजेन विज्ञापितो महावीर आसन उपविशति । महाराजो महावीरस्य दक्षिणे पार्श्वे उपविशति । अन्ये सर्वे महानुभावा यथास्थानमुपविशन्ति । चित्रार्पिता इव क्षणं स्थित्वा सर्वे जनाः शनैः शनैः स्वस्थानं गृह्णन्ति ।*)

हस्तिपालः - (*उत्थाय महावीरं प्रणम्य*) भगवाननुगृह्णातु श्रावका-नमृतवचनैः ।

महावीरः - ओम् । श्रुणुत भो सभाजनाः । प्राक्प्रवचनं मनोवृत्तिसमाधनाय क्षणं यावद्ध्यानं कुर्मः । तन्निमील्य नेत्र एकचित्तो भवन्तु सर्वे । (*स्वनेत्रे निमील्य नमस्कारमुद्रां विरचय्य च -*)

ॐ नमो अरिहन्ताणं नमोसिद्धाणं नमो आयरियाणम् ।
नमो उवज्झायणं नमो लोए सव्वसाहूणम् ।।२५।।

।। सप्तदशं श्यम् ।।

एसो पञ्चनमुक्कारो सव्वपापपणासणो ।
मङ्गलाणं च सव्वेसिं पढमं हवई मङ्गलम् ।।२६।।)
ॐ नमो अर्हतानां नमो सिद्धानां नमो आचार्याणाम् ।
नमो उपाध्यायानां नमो लोके सर्वसाधूनाम् ।।२५।।
एष पञ्चनमस्कारः सर्वपापप्रणाशनः ।
मङ्गलानां च सर्वेषां प्रथममस्ति मङ्गलम् ।।२६।।

(*द्विक्षणं शान्तस्तिष्ठति । विशाले समुदाये शान्तिः प्रसरति । ततः* –)

महावीरः – ओ३म् । भोः संमिलिताः श्रावकाः । सम्यगवधानेन श्रुणुत । 'उद्धरेदात्मनात्मानम्' इति श्रुतिः । किमेतस्य प्रयोजनम् । सर्वे जीवा अविद्याभिभूता माययाऽऽवृताश्च । जीवे जीवेऽविद्या भिन्नरूपा स्वभावभेदादिति संसारे सार्वत्रिकानुभवः । स्वभावो जन्मानुगतः कर्मबन्धनात् । कर्मबन्धस्तु त्रुट्यते प्रतिक्रमणेन, यच्च वैयक्तिकं पुरुषार्थमपेक्षते । (*सस्मितम्*) एतत्सर्वमवगणय्य केचन महाजनाः श्रावका उपसृत्य मां प्रार्थयन्प्रवचनाय । 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्य' इति कृत्वाऽनिच्छा प्रदर्शिता मया । तथापि तेऽवदन् 'प्रज्वाल्यते ज्योतिषा हि ज्योतिः' । (*पुनर्गाम्भीर्येण*) एवंविधां निष्ठामवलोक्य मा ते निःश्रेयसमार्गे नैराश्यमनुभवेयुरिति कृत्वा महामुनेर्योगाचार्यस्य प्रबोधनाच्च लोकसंग्रहार्थं मौनं त्यक्त्वा समुपस्थितोऽहमत्र जिनधर्मस्य पुनरुत्थानाय । केचिद् ब्राह्मणा मां 'महावीर' इति वदन्ति । न पश्यामि स्वयं वीरत्वं किञ्चिन्मयि ।

हस्तिपालः – नम्रत्वेनोन्नमति भवान् ।

कश्चित् सभाजनः – इन्द्रोऽपि त्वां महावीराभिधानमददादिति श्रुणुमः ।

बिम्बिसारः – परिषहक्षमतायां केवलं महादेवद्वितीयोऽसि । अतो महावीरः कथ्यसे ।

अपरः सभाजनः – श्रूयते परिषहैर्भवता तेजोलेश्यादेहोत्सर्गादीनामनेकसिद्धीनां लाभः कृतः ।

तृतीयः सभाजनः – देहोत्सर्गप्रयोगं प्रेक्षितुमिच्छामः ।

अन्यः सभाजनः – तेजोलेश्याप्रयोगमपि ।

बहवः सभाजनाः – (*सममेव*) ओम् । ओम् । (*इति वर्धते*

कोलाहलः ।) (महावीरस्तु नेत्रे निमील्य सस्मितं मौनं भजते । पश्चाच्छान्तिमन्त्रं पठति ।)

महावीरः – ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

राजा बिम्बिसारः – कीदृशमौद्धत्यं भवताम् । पश्यन्तु खिन्नो भवति भगवान् ।

एकः जनः – शान्तिं गृह्णन्तु । नो चेत्तेजोलेश्यया सर्वान्भमसात्करिष्यति सः ।

अपरः सभासदः – अहिंसापरकः स न किमप्येतादृशमाचरिष्यति । (*महावीरस्तु शान्तभावेन तथैव तिष्ठति । शनैः शनैः सभामण्डपे शान्तिः प्रसरति । ततः* –)

हस्तिपालः – भगवन् यद्यनुज्ञाऽस्ति किमपि प्रष्टुकामोऽस्मि ।

महावीरः – जानामि भवन्मनीषा । तथाप्युच्यतां सभाजनलाभाय ।

हस्तिपालः – कथं ज्ञाता मे मनीषा भवता । कस्याप्यग्रे न मया मन्त्रितमेतत् ।

आनन्दः – कैवल्यज्ञानिनो न किमप्यशक्यम् ।

हस्तिपालः – यदि जानीते मे मतं तर्हि भगवानेव प्रकटयतु ।

महावीरः – शङ्कितोऽसि । तर्हि महाराजबिम्बिसारकर्णे तवाकांक्षां वर्णयामि । पश्चात्त्वं प्रकटयिष्यसि । (*बिम्बिसारं प्रति*) महाराज, समीप-मागच्छतु । (*बिम्बिसारो महावीरमुपसर्पति । महावीरस्तस्य कर्णे किमपि वक्ति । पश्चाद्धस्तिपालं प्रति* –) अधुनोच्यतां ते मनीषा ।

हस्तिपालः – भगवन्, कर्णछेदसमयेऽयोविषमपरिषहास्तितिक्षिता भवतेतिजनवार्ता । कथमेतच्छक्यं भवति देहिनामिति प्रष्टुमैच्छम्।

बिम्बिसारः – अभूतपूर्वमेतत् । न केवलं मनीषा वचनमप्यक्षरशः कथितपूर्वमेव । (*सभाजनाः सर्वे हर्षोल्लासं प्रकटयन्ति ।*)

राजा हस्तिपालः – भगवन् रहस्यं प्रवक्तुमर्हसि ।

महावीरः – प्राणायामादिभिस्तु देहस्यान्तरिकं तत्त्वं ज्ञातुं शक्यते । तथैव देहमखिलं तदंशं वा जडीकर्तुं शक्यते यतो वेदनालक्षणं चैतन्यमनुपस्थितमस्ति देहोत्सर्गदशायाम् ।

।। सप्तदशं श्यम् ।।

बिम्बिसारः – भगवन् केनोपायेन ज्ञाता हस्तिपालमनीषा ।

महावीरः – रागद्वेषादिविकारचञ्चलयाश्चित्तवृत्तेर्निरोधोणाप्यते परचित्त-वृत्तिप्रवेशः ।

बिम्बिसारः – कथमाप्यते गतजन्मस्मरणम् ।

महावीरः – प्रतिक्रमणेन प्राप्यते पूर्वजन्मस्मृतिः ।

हस्तिपालः – कथमाप्यते कैवल्यम् ।

एकः सभाजनः – (*उत्थाय*) क्षम्यतामविनयम् । ज्ञानमीमांसापूर्वं प्रत्यक्षप्रमाणेनाधिगन्तुमिच्छामि गुरोरधिकारमुपदेशाय । तद् देहोत्सर्गप्रयोगः ।

द्वितीयः – तेजोलेश्या च ।

आनन्दः – द्वावपि कृच्छ्रप्रयोगौ ।

तृतीयः सभासदः – महावीरस्य न किमप्यशक्यम् ।

हस्तिपालः – चमत्काररसिकाः प्राकृतजनाः ।

बिम्बिसारः – चमत्कारैरेव ते प्रभाव्याः ।

महावीरः – सिद्धिप्रयोगाः शक्तिक्षयकारकाः । तस्मात्ते कैवल्यमार्गे विघ्नरूपाः । गोशालकदृष्टान्तः प्रसिद्धः ।

एकः सभाजनः – भगवांस्तु सिद्धकैवल्यः । गृहागतस्य मार्गविघ्नैः किम् ।

महावीरः – (*समुक्तहासम्*) भवतु । न लोकरञ्जनायापितु लोक-शिक्षायै प्रदर्शयिष्ये तेजोलेश्याप्रयोगः ।

आनन्दः – भगवन् मैवम् । बोधयति स्वयं हि भगवांस्तेजोलेश्या न केवलं दह्यमानस्यापितु दाहकस्य शरीरमपि दहति ।

महावीरः – ततः किम् । श्रावकानां तुष्टये ज्वलनमपि मे सुखावहम् ।

हस्तिपालः – परोपकाराय सतां विभूतयः ।

महावीरः – तदानयतु कानिचित्काष्ठखण्डानि कुण्डं च । (*राज्ञो हस्तिपालस्येङ्गितेन रक्षक एकः कुण्डमध्ये काष्ठखण्डानि क्षिपति ।*) शान्ताः भवन्तु सर्वे प्रयोगकाले ।

सभासदाः – (*सोल्लासम्*) बाढम् । स्वीकुर्मः । (*एवंविधान्विविधान्नादान् कुर्वन्तः केचिज्जना अग्रे सर्तुं प्रयतन्ते ।*)

बिम्बिसारः – नेदं शान्तिग्रहणम् । एतत्तु शान्तेर्ग्रहणम् ।

एकः जनः - वानरचापल्यं च ।

(*सभाजना उच्चैर्हसति । केचित्तु 'शन्तिः शान्तिः' इत्याक्रोशन्ति । महावीरो दक्षिणहस्तमुद्यम्योच्चरति शान्तिमन्त्रम् । सभायां शीघ्रं शान्तिः प्रसरति । सहसा महावीरस्य नेत्रोत्पतिता तेजोलेश्या कुण्डकाष्ठान् प्रज्वालयति ।*)

सर्वे जनाः - अहो महदाश्चर्यम् । महदाश्चर्यम् ।

(*जनानां सुमहान् करतलध्वनिः । शनैः शनैः तेजोलेश्या लयते । महावीरः स्वयमपि महत्या वेदनया पराभूत इव शारीरिकास्वस्थतां प्रकटयति । आनन्दादयस्तु तं व्यजनं कुर्वन्ति । मन्दं मन्दमुदंघटतस्तस्य नेत्रे । स्थापत्योत्कीर्णा इव सभाजना मौनं धारयन्ति । महावीर उद्वेगशमनाय नमस्कारमन्त्रं शान्तिमन्त्रञ्च पठति ।*)

एकः सभाजनः - अधुना देहोत्सर्गः ।

महावीरः - (*शान्तिभङ्गं कृत्वा*) न । सर्वं यथासमयं शोभते । सूर्योऽपि न प्रकाशते रात्रौ ।

अन्यः सभासदः - तीर्थंकरास्तु कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुमपि समर्था ऐश्वर्यात् ।

महावीरः - मैवम् । देहधर्माः कालधर्माश्च शाश्वताः । आदिनाथस्य पार्श्वनाथादीनाञ्च शरीराणि कालधर्मानुसारेण नष्टान्येव । ममाप्यचिरेण नंक्ष्यति । कर्मणो गतिमन्यथाकर्तुमीश्वरोऽपि न समर्थः । तेजोलेश्याप्रयोगेन तप्तमिदं शरीरमशक्तं देहोत्सर्ग-प्रयोगाय ।

हस्तिपालः - पुनर्न युक्तमेतज्ज्ञानसत्रं हठप्रयोगस्तरे निपातयितुम् । पूर्वमेव कथितं भगवता यत्तेजोलेश्योत्पादनं शक्तिक्षयकारकाम् दाहकं च । तस्माद् देहोत्सर्गप्रयोगो न भविष्यति ।

महावीरः - नैवम् । देहोत्सर्गप्रयोगोह्यपि भविष्यत्येव लोकप्रत्ययाय । किन्त्वद्यप्रभृति सप्तमे दिने भविष्यति । स्वास्थ्यलाभाय पञ्च-षण्णां दिनानामवधिरावश्यकी ।

आनन्दः - षड्दिनपर्यन्तं तु कैवल्यवार्ता ।

बिम्बिसारः - ये सभाजनाः कौतुकमात्रेण वा भगवन्मुखदर्शनार्थं वाऽऽगताः स्युः येषां च प्रवचनेन नास्ति प्रयोजनं ते स्वैरं

शान्तभावेन मण्डपं त्यजेयुः । श्रावका एवात्र तिष्ठन्तु ।

राजा हस्तिपालः - अर्धघटिकाविरामो देवस्यापि भविष्यति ।

(*केचन जना निर्गच्छन्ति । अर्धघटिकान्ते ।*)

महावीरः - अथ प्रवचनं प्रारभ्यते । एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति । यन्नेति नेति वचनैर्निगमा अवोचुस्तदेवाहं मौनेन वदामि श्रमणाश्चान्ये स्याद्वादेन । आकैवल्यज्ञानन्तु यद्वेद्यं भवति तत्तु खण्डदर्शनमेव । यथाऽन्धजना गजस्य विविधाङ्गानां रूपभेदात्तस्यैकाङ्गं स्पृष्ट्वा तदनुरूपं हि हस्तिस्वरूपं वर्णयन्ति अयं स्तम्भाकृतिः, अयं शूर्पाकृतिः, अयं रज्ज्वाकृतिः, अयं वक्राकृतिः' इत्येव विविधरूपेण तथैवाज्ञानास्तत्त्वस्य खण्डदर्शनेन तद् बहुधा वदन्ति । पश्चात्कैवल्यज्ञप्तेः मौनमेवावलम्बनीयं भवति मनसा वाचा च तत्त्वस्यागम्यत्वात् । तस्मादेवोच्यते यत् 'उद्धरेदात्मनाऽऽनात्मानम्' । केनोपायेन पुनः । मनसः चञ्चलता हि स्वयंप्रकाशस्य सत्यस्य दर्शनेऽवरोधः । चाञ्चल्यं च रागद्वेषादिविकारजन्यम् । विकाराश्च स्वभावानुरूपाः । ते च कर्मोद्भवाः । तस्मात्कर्मजन्यं बन्धनं हि सर्वाज्ञानस्य मूलम् । तच्च छिद्यते परिषहैः प्रतिक्रमणेन योगेन च । तस्माद्योगः कर्तव्यः । चित्तवृत्तिनिरोधस्तपश्च योगः ।

(*हठात्प्रविशत्येका त्रयोदशवर्षिया बालिका । रोद्धुकामानां रक्षकाणां प्रयासं विफलीकृत्य मञ्चसमीपं गच्छति । मञ्चरक्षकेभ्यो कश्चित्तां रुणद्धि ।*)

महावीरः - मा तदागमने रोधं कुरु ।

(*रक्षकहस्तान्मुक्ता सा महावीरसमीपमागत्य वदति ।*)

बालिका - भगवन् वृद्धा मे मातामही प्रत्यासन्नदेहविलया । समुत्सुका मृत्युपूर्वं तुभ्यं स्वहस्तेन भिक्षां दातुम् । न कथमपि शान्तिमाप्नोति । तदविलम्बेन मया सार्धमागन्तव्यम् । नो चेन्मृत्युमाप्स्यति साऽतृप्तवासना, दुर्गतिं च गमिष्यति ।

महावीरः - (*क्षणं हस्तिपालेन विमृश्य सभां प्रति* -) अहिंसा परमो धर्मः । न तज्जीवदयया विना शक्यो पालयितुम् । सम्यगाचारो हि प्रमाणं सम्यज्ज्ञानस्य । सभा विसर्जिता भवेत् । अहं

गच्छाम्यनया बालिकया सह । श्वः प्रभाते द्वितीयप्रहरारम्भे पुनर्व्याख्यानं प्राप्स्यते ।

(*झटिति मञ्चान्निःसृत्य रक्षकैः कृतेन मार्गेण बालिकया सह निष्क्रान्तः । अन्ये च सर्वे निष्क्रान्ताः ।*)

।। इति सप्तदशं श्यम् ।।

।। अष्टादशं श्यम् ।।

[*सप्तमे दिने देहोत्सर्गप्रयोगदर्शनार्थं महत्तरो जनसमुदाय: सभामण्डपे सम्मिलित: । भगवान्महावीरो व्यासपीठमलङ्करोति । हस्तिपालादयोऽन्ये च सर्वे यथास्थानं विराजिता: । रात्र्या: प्रथमप्रहरारम्भ: । भगवान्महावीर: प्रवचनस्य समापनार्थमन्तिमोपदेशं करोति ।*]

महावीर: – सप्तदिनानां प्रवचननानां समापनकाले संक्षेपत: पुनरावर्तनं करोमि जैनदर्शनस्य । नासतो विद्यते भावो यत: तस्य भावे सति असत्सत्स्यात् तत्तु वदतोव्याघात: । तस्मात्सत एव भाव: । तस्माच्च सत्स्वयंप्रकाशम् । आवरणाभावात् । तथापि तस्य दर्शनं दुर्लभम् । केन कारणेन । एकमेव कारणं सम्भवति । द्रष्टॄणां दोष: । किंरूपस्तद्दोष: । चित्तचाञ्चल्यम् । किं कारणं चाञ्चल्यस्य । रागद्वेषादिमनोविकारा: । क उपायो दोषनिवारणे । चित्तवृत्तिनिरोधो योग इति । संसारो नासत् । यत: तस्य भावत्वं विद्यते । असत्तु तस्य प्रत्याभास: । प्रत्याभासकारणं मनसश्चाञ्चल्यम् । यथा प्रवेगेन धावति रथे स्थितो जनो वृक्षान् विपरीतदिशं धावमानान् पश्यति तत्तस्यावभासश्चाञ्चल्यकारणात् समुद्भूत: । अत: स असत् । न वृक्षा: । तथैव न संसारो मिथ्या, तत्साम्बान्धेनासद्भावनं हि मिथ्या । तथाहि, जीवा बहव: परस्परकलहत्वात् । कलहो दु:खस्य कारणम् । कलहस्य कारणमसद्भावना । तस्माद्यत्नेन सद्भावना भावितव्या । यतो भावनारूप: संसार: भावनासदृशी च सिद्धि: । जीवो न ईश्वर: । तथापि जीव ईश्वरो भवति । यथा बालो न विद्वान् । तथापि बालो हि यत्नेन विद्वान्भवति । बीजं न वृक्ष: । तथापि बीजमेव हि वृक्षो भवति । अज्ञानाच्च जीव:, ज्ञानेन ईश्वर: । अहिंसया च ज्ञानोदय: । तपसा स देवो भवति । इन्द्रियजयेनेन्द्रो भवति । त्रिरत्नेन जिनो भवति । तीर्थं भूत्वाऽऽर्तजीवानां तीर्थंकरो भवति ।

पुनश्च श्रद्धया जीवः श्रावको भवति । सम्यग्दर्शनेन दीक्षया च श्रमणो भवति । तथा च सम्यज्ज्ञनेन मौनेन च मुनिर्भवति । सम्यगाचारैः प्रतिषहैश्चाचार्यो भवति । त्रिरत्नेन तु केवली भूत्वा जिनो भवति । योगेनाप्यते पूर्णत्वं तस्माद्योगं चरन्तु भवन्तः । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

(नेत्रे निमील्य ध्यानमुद्रां कृत्वोपविशति । सभायां च नीरवशान्तिः प्रसरति । आनन्दो हस्तिपालादयश्च परितुष्टिभावमनुभवन्ति । व्यतीतेषु केषुचित्क्षणेषु -)

आनन्दः - अथ देहोत्सर्गप्रयोगः ।

(सभायां काचिदव्यवस्था सशब्दा ।)

राजा बिम्बिसारः - पूर्णनीरवतायां हि प्रयोगो शक्यो भवति । तस्माच्छान्ता भवन्तु भवन्तः ।

(पुनरपि शान्तिः प्रसरति । तदनु व्यतीतेऽल्पसमये महावीरविग्रहादुत्क्रामत्येकः प्रकाशपुञ्जः । मण्डपवितानमासाद्य प्रदक्षिणां करोति सभाम् । ॐ इति चैकाक्षरः स्वरो गुञ्जति सभामण्डपे । त्रिर्हंसगत्या प्रदक्षिणीकृत्य स तेजःपुञ्जः पुनः प्रविशति महावीरतनुम् । अल्पसमयेन पुनरपि तथैव भवति । क्षणान्तरे आनन्दं मुक्त्वाऽन्ये सर्वे सभाजना आसनस्थिता एव निद्रावशं गच्छन्ति । पश्चात्)

महावीरः - (*चक्षुषी उन्मील्य*) आनन्द, आसन्ना प्रयाणवेला । श्रूयतेऽप्सरसां नुपूरझङ्कारो देवानां च कीर्तनम् । सर्वत्र प्रसरत्यानन्दस्त्रिभुवने । त्वमपि नन्दस्व । अचिरेण त्वं च मामनुसरिष्यसि । यदा ब्राह्मे मुहूर्ते जागरिष्यति सभा तदा मेऽयं शान्तिसन्देशो घोषयितव्यः । - 'अहिंसा परमो धर्मः । स एव सम्यगाचारः कैवल्यमार्गश्चे'ति । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

(सः पद्मासनस्थ एव पूर्वमेवोत्सृजति देहम् ॐ इति मन्त्रेण ।)

आनन्दः - (*नमस्कृत्य*) ॐ अरिहन्ताणम् । नमो महावीरं तीर्थभूतं तीर्थम् ।

(नेपथ्ये नुपूरध्वनिना सह)

दीपावलीं रङ्गावलीं गीतावलीं रचयन्तु वै
सर्वा च सृष्टिर्नन्दतु दत्ताभया तीर्थंकरैः ।
प्राप्नोन्महावीरोऽद्य पदवीं शाश्वतीं तीर्थंकरीं
प्रशादहिंसां यो विभुः स मङ्गलं विदधातु नः ।।२७।।

(*पटाक्षेपः ।*)

।। इति अष्टादशं श्यम् ।।

।। समाप्तमिदं नाटकं महावीरनिर्वाणम् ।।

।। समाप्तेयं श्री जनकशङ्करविरचिता रूपकत्रयी इति शम् ।।